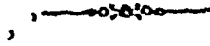




# वाग्भटालङ्कारः ।



श्रीवाग्भटविरचितः ।



पण्डितकुलपतिना

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीमञ्जीवानन्दविद्यासागरभट्टाचार्येण विरचितया,

तथा तदात्मजाभ्यां

पण्डितश्रीमदाशुबोधविद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यबोधविद्या-

रत्नाभ्यां परिवर्त्तितयोः परिवर्द्धितया च टीकया

समलङ्कृत्य ताभ्यामेव प्रकाशितः ।



च तु य स क्क र ष न् ।



कलिकातामहानगर्याम्

वाचस्पत्ययन्त्रे

मुद्रितः ।



ई १८१७ ।

---

प्रकाशक— { पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण  
तथा  
पण्डित-श्रीनित्यबोध-विद्यारत्न ।

प्राप्तिस्थान— { २ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रौट्, छारिसन-  
रोड—पोष्ट अफिस । कलिकाता ।

---

प्रिण्टेर—वि, वि, मुखर्जी ।

२ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रौट्, कलिकाता ।

# सूचीपत्रम् ।

## प्रथमपरिच्छेदे—

| विषय                              | पृष्ठाङ्क । |
|-----------------------------------|-------------|
| संज्ञाचरणम्                       | १           |
| काव्यफलम्                         | ३           |
| काव्योत्पत्तौ कारणम्              | ३           |
| प्रतिभा                           | ४           |
| व्युत्पत्ति                       | ५           |
| अभ्यास                            | ६           |
| अभ्यासप्रकार                      | ७           |
| अन्यथावन्धस्याचरुत्वीटा-<br>हरणम् | ७           |
| यावत्कवित्वसंभ्यास-<br>कथनम्      | ८           |
| तट्टटाहरणम्                       | ९           |
| अन्यार्थानपहरणकथनम्               | १०          |
| संभस्यापामन्यार्थापहरण<br>कथनम्   | १०          |
| अथभक्तिद्वैतव                     | ११          |
| अथप्रकाशनप्रकार                   | ११          |
| कविकर्तव्योपदेश.                  | १२          |
| सपदेशान्तरम्                      | १३          |
| अन्यविधोपदेश                      | १४          |
| अपरविधोपदेश                       | १४          |
| बन्धोद्धरणोपदेश                   | १५          |
| तैषामुदाहरणानि                    | १५          |

| विषय                  | पृष्ठाङ्क । |
|-----------------------|-------------|
| हारधन्वचितम्          | १८          |
| ह्रस्वधन्वचितम्       | २०          |
| ह्रस्वधन्वचितान्तरम्  | २१          |
| काव्यनिष्ठाणकालनिर्णय | २२          |

## द्वितीयपरिच्छेदे—

|  |    |
|--|----|
| काव्यशरीरकथनम्                         | २३ |
| भाषानिरूपणम्                           | २४ |
| काव्यस्य द्वैविध्यनिरूपणम्             | २५ |
| निर्दोषकाव्यप्रशमा                     | २६ |
| पदगतदोषा                               | '  |
| सोदाहरणमनर्थकलक्षणम्                   | ३० |
| सोदाहरण श्रुतिकट्ट-<br>लक्षणम्         | ३१ |
| सोदाहरण व्याहृताथ<br>लक्षणम्           | ३२ |
| सोदाहरणमलक्षणलक्षणम्                   | ३३ |
| सोदाहरण स्वसङ्केत<br>प्रकृतार्थलक्षणम् | ३४ |
| सोदाहरणमप्रसिद्धलक्षणम्                | ३६ |
| सोदाहरणमसम्मतलक्षणम्                   | ३७ |
| सोदाहरण शाम्यलक्षणम्                   | ३८ |
| वाक्यमावदीषोक्तिप्रतिज्ञा              | ३८ |
| वाक्यदोषा                              | ३९ |
| सोदाहरण खण्डितलक्षणम्...               | ४४ |

| विषय                    | पृष्ठाङ्क । |
|-------------------------|-------------|
| सीदाहरण व्यक्तसम्बन्ध   |             |
| लक्षणम् ..              | ४५          |
| सीदाहरणसम्मितलक्षणम्    | ४६          |
| सीदाहरणसपक्षमलक्षणम् .. | ४७          |
| सीदाहरण कृन्दीभट्ट-     |             |
| लक्षणम् .               | ४८          |
| सीदाहरण रीतिभट्टलक्षणम् | "           |
| सीदाहरण यतिभट्ट         |             |
| लक्षणम् ...             | ४९          |
| सीदाहरणसत्क्रियलक्षणम्  | ५०          |
| अर्थदीपा                | "           |
| अर्थदीपीदाहरणम् ..      | ५५          |
| प्रकरणोपसंहार           | ५६          |

तृतीयपरिच्छेदे—

|                              |       |
|------------------------------|-------|
| गुणप्रयोजनम् .               | ५७    |
| गुणनामानि ..                 | ५८    |
| सीदाहरणसौदार्यलक्षणम् .      | ५८—५९ |
| सीदाहरण समताकान्तो           |       |
| लक्षणम् .                    | ६०—६१ |
| सीदाहरणमर्थन्यक्तिलक्षणम् .. | ६२    |
| सीदाहरण प्रसन्नतालक्षणम् .   | ६३    |
| सीदाहरण समाधिलक्षणम् . .     | ६४    |
| श्लेषोपलक्षणम् ..            | "     |
| श्लेषोदाहरणम् ...            | ६५    |
| श्लेष उदाहरणम् . .           | ६६    |
| सीदाहरण माधुर्यसौकुमार्ययो   |       |
| लक्षणम् .                    | ६७—६८ |
| गुणोपसंहार                   | ६९    |

चतुर्थपरिच्छेदे—

| विषय                         | पृष्ठाङ्क । |
|------------------------------|-------------|
| अलङ्कारलक्षणम् ..            | ७०          |
| अलङ्काराणां नामानि           | ७०—७१       |
| चित्रलक्षणम् ...             | ७२          |
| चित्रोदाहरणम् ..             | "           |
| षोडशदलकमीलबन्धचित्रम् ...    | ७२          |
| गोमूत्रिकाबन्धचित्रम्        | "           |
| गोमूत्रिकाबन्धचित्रान्तरम् . | ७४          |
| एकस्वरचित्रोदाहरणम् ..       | ७५          |
| मात्राच्युतकचित्रोदाहरणम् .. | ७७          |
| विन्दुच्युतकचित्रोदाहरणम्    | ७८          |
| एकव्यञ्जनचित्रोदाहरणम् .     | ७९          |
| अक्षरच्युतकचित्रोदाहरणम् ... | ८०          |
| वक्रोक्तिलक्षणम् ..          | ८१          |
| समझश्लेषवक्रोक्तिकटाहरणम्    | "           |
| असमझश्लेषवक्रोक्तिकटाहरणम्   | ८२—८३       |
| अनुप्रासलक्षणम् .            | ८४          |
| कैकानुप्रासोदाहरणम् .        | ८५          |
| लाटानुप्रासोदाहरणानि ...     | ८५—८७       |
| यमकलक्षणम् .                 | ८७          |
| यमकोदाहरणानि .               | ८८—१०५      |
| स्वभावीक्तिलक्षणम् ..        | १०६         |
| स्वभावीक्त्युदाहरणद्वयम् ..  | १०६—१०७     |
| उपमालक्षणम् .                | १०८         |
| उपमोदाहरणम्                  | "           |
| अपरमुपमोदाहरणम् . .          | १०९         |
| अन्योपमोदाहरणम् .            | ११०         |
| उपमेयोपमाया उदाहरणम् .       | १११         |

| विषय  | पृष्ठाङ्कः । | विषयः  | पृष्ठाङ्कः । |
|---|--------------|--|--------------|
| अनन्वयोपमाया उदाहरणम्                       | ११२          | प्रतिषेधोक्तिमूलकाक्षेपस्य उदाहरणम्                      | १२७          |
| वक्रपर्मयमूलीपमाया उदाहरणम्                 | ११२—११३      | प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य उदाहरणम्                    | "            |
| अनेकोपमानमूलीपमोऽत्र उदाहरणम्               | ११३          | प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाक्षेपस्य प्राकृतकाव्यस्थान्युदाहरणम् | १२८          |
| उपमादोषा तत्रैतिप्रसवथ उदाहरणम्             | ११४          | मशयलक्षणम्   | १२९          |
| उपमादोषोदाहरणम्                             | ११५          | शङ्कमशयोदाहरणम्  | "            |
| उपमानस्य ज्ञानिप्रमाणगतन्दुनाधिकत्वोदाहरणम् | ११६          | निश्चयान्तमशयोदाहरणम्                                    | १३०          |
| हीनाधिकविशेषणीपमानोदाहरणम्                  | ११७          | दृष्टान्तलक्षणम्   | "            |
| मिन्नलिङ्गीपमानोदाहरणम्                     | ११८          | दृष्टान्तालङ्कारोदाहरणम्                                 | १३१          |
| समासे लिङ्गभेदस्य अदोपत्तीदाहरणम्           | ११८—११९      | व्यतिरेकलक्षणम्  | "            |
| विमिन्नलिङ्गरूपकोदाहरणम्                    | ११९          | व्यतिरेकोदाहरणम्   | १३२          |
| मिन्नलिङ्गप्रतिबन्धूपमीदाहरणम्              | १२०          | अपङ्कतिलक्षणम्   | "            |
| रूपकान्तरणम्                                | १२१          | अपङ्कानुदाहरणम्  | १३३          |
| समस्तखण्डरूपकोदाहरणम्                       | १२१—१२२      | तुल्ययोगितालक्षणम्                                       | १३४          |
| असमस्तखण्डरूपकोदाहरणम्                      | १२२          | तुल्ययोगितीदाहरणम्                                       | "            |
| समस्तखण्डरूपकोदाहरणम्                       | १२३          | उत्प्रेचालक्षणम्   | १३५          |
| असमस्तखण्डरूपकोदाहरणम्                      | १२४          | उत्प्रेचोदाहरणम्   | "            |
| प्रतिबन्धूपमाखलक्षणम्                       | १२५          | अर्थान्तरन्यासलक्षणम्                                    | १३६          |
| प्रतिबन्धूपमीदाहरणम्                        | "            | अर्थान्तरन्यासोदाहरणम्                                   | १३६—१३७      |
| ज्ञानिमल्लक्षणम्                            | "            | समासोक्तिखलक्षणम्  | १३८          |
| ज्ञानिमदुदाहरणम्                            | १२६          | समासोक्त्युदाहरणम्                                       | "            |
| आक्षेपखलक्षणम्                              | "            | विभावनालक्षणम्   | १३९          |
|   |              | विभावनीदाहरणम्   | १४०          |
|   |              | सोदाहरण दीपकलक्षणम्                                      | १४०—१४१      |
|   |              | सोदाहरण अतिशयोक्तिखलक्षणम्                               | १४२          |
|   |              | सोदाहरण हेतुलक्षणम्                                      | १४३—१४५      |

| विषय                      | पृष्ठाङ्क । | विषय  | पृष्ठाङ्क । |
|---------------------------|-------------|---|-------------|
| सोदाहरण पर्यायीक्ति       |             | अनुमानलक्षणम्   | १६६         |
| लक्षणम्                   | १४६         | अतीतानुमानोदाहरणम्  | "           |
| समाहितलक्षणम्             | १४७         | अनागतानुमानोदाहरणम्                                       | १६७         |
| समाहितीदाहरणम्            | "           | वत्तमानानुमानोदाहरणम्                                     | १६८         |
| परिवृत्तिलक्षणम्          | १४८         | परिसङ्ख्यालक्षणम्   | "           |
| प्रथमपरिवृत्त्युदाहरणम्   | १४९         | परिसङ्ख्योदाहरणम्   | १६९         |
| द्वितीयपरिवृत्त्युदाहरणम् | १४९—१५०     | प्रतीक्षालक्षणम्  | १७०         |
| यथासङ्गानलक्षणम्          | १५०         | सङ्करलक्षणम्  | "           |
| यथासङ्गोदाहरणम्           | १५०—१५१     | व्यक्तोत्तरीदाहरणम्                                       | १७१         |
| विषमलक्षणम्               | १५१         | गूढोत्तरादाहरणम्  | १७२         |
| विषमोदाहरणम्              | १५२         | गूढागूढोत्तरोदाहरणम्                                      | १७३         |
| सङ्घोक्तिलक्षणम्          | "           | सङ्घोदाहरणम्  | १७४         |
| सङ्घोक्त्युदाहरणम्        | १५३         | ग्रन्थान्तरीक्तानामन्वेषामलङ्कारा<br>णामनभिधाने हेतुकथनम् | "           |
| विरोधलक्षणम्              | १५४         | उपसंहार,  | १७५         |
| शब्दकृतविरोधीदाहरणम्      | १५४—१५५     | पञ्चमपरिच्छेदे—   |             |
| अर्थकृतविरोधीदाहरणम्      | १५६         | समेदगीतकथनम्  | १७६         |
| अवसरलक्षणम्               | "           | गौडोतीतरुदाहरणम्  | १७७         |
| अवसरोदाहरणम्              | १५७         | द्वैतव्या उदाहरणम्  | १७८         |
| सारलक्षणम्                | १५८         | षष्ठपरिच्छेदे—  |             |
| सारीदाहरणम्               | "           | काव्ये रमानामुपयोग  |             |
| शेषलक्षणम्                | १५९         | व्यवस्थापनम्  | १७९         |
| शेषोदाहरणम्               | १५९—१६०     | रसस्वरूपकथनम्   | "           |
| समुच्चयलक्षणम्            | १६१         | रसनामानि  | १८२         |
| आद्यसमुच्चयोदाहरणम्       | १६२         | शृङ्गारलक्षण तदुदाहरणम्                                   | १८३         |
| द्वितीयसमुच्चयोदाहरणम्    | १६२—१६३     | शृङ्गारव्य भेदालंकरणम्                                    | "           |
| अप्रस्तुतप्रशंसालक्षणम्   | १६३         | नायकलक्षणम्   | १८१         |
| अप्रस्तुतप्रशंसोदाहरणम्   | १६४         | नायकभेद   | १८२         |
| एकाविलीलक्षणम्            | "           |   |             |
| एकाविल्युदाहरणम्          | १६५         |   |             |

| विषय                        | पृष्ठाङ्क । | विषय                  | पृष्ठाङ्क । |
|-----------------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| अनकूलदक्षिणार्धलक्षणम्      | १८७         | वीररसलक्षणम्          | २१५         |
| शठघृष्टशार्ङ्गलक्षणम्       | १८६         | ककणरसलक्षणम्          | २२०         |
| नायिकाभेद ..                | १८६         | हास्यरसलक्षणम्        | २२१         |
| अनूदानलक्षणम्               | २००         | पातभेदेन हासभेद ..    | २२२         |
| स्वकीयालक्षणम् ..           | "           | अङ्गतरसीत्यक्तिकथनम्  | २२४         |
| उरकीयालक्षणम्               | २०२         | अङ्गतरसलक्षणम् ..     | "           |
| पणाङ्गनालक्षणम्             | २०७         | भयानकरसलक्षणम्        | २२६         |
| वश्यादिमायिकाना विशेष कथनम् | २०६         | भयानकरसस्य काव्यम्    | "           |
| विप्रलम्भशङ्कारभङ्गा        | "           | रौद्ररसलक्षणम्        | २२८         |
| पुंस्त्वानुवागलक्षणम् ..    | २०७         | रौद्ररसस्य काव्यम् .. | "           |
| मानप्रवासशार्ङ्गलक्षणम्     | २१०         | वीभक्तरसलक्षणम्       | २३०         |
| ककणविप्रलम्भलक्षणम्         | २१४         | शान्तरसलक्षणम् ...    | २३२         |
|                             |             | उपसंहार.              | २३५         |

### शुद्धिपत्रम् ।

| पृष्ठी | अशुद्धि                 | शुद्धि  |
|--------|-------------------------|---|
| १०० १० | सोटाकरणमाह,—            | ... सोटाकरणमाह,—                                |
| ७६ ८   | द्वि—                   | ... द्वि—                                       |
| " १२   | स्य —विभक्त,            | ... स्य,—सकोयं स्य —विभक्त                      |
| " १६   | अस्मिन्नि सुदृ          | ... तस्मिन्नि ज्ञेयं उ —                        |
| " १७   | एते मग्ना भवामोत्यागसा, | ... मग्ना भवेत्यागसा                            |
| " १४   | अथ एषम्                 | ... { अथ "उ" इति क्रियापद इत, गतौ<br>इत, गतौ    |
| ११६ १  | अपरादाकरणाह,—           | ... { उपमास्य भावप्रसादगतनुनासिह<br>सोटाकरणम्,— |
| १६० १  | अपरादाह—                | ... अपरादाह—                                    |





# वाग्मटालङ्कारः ।

प्रथमः परिच्छेदः ।

∴

मङ्गलाचरणम्,—

श्रियं दिशतु वो देवः श्रीनाभेयजिनः सदा ।  
मोक्षमार्गं सतां ब्रूते यदागमपदावली ॥ १ ॥

नत्वा सरस्वतीं देवीं श्रीजीवानन्दशर्मणा ।

वाग्मटीयमलङ्कारशास्त्र व्याख्यायते स्फुटम् ॥

अथ अत्रभवान् श्रीवाग्मटं, “समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्” इति श्रौत प्रमाणयन्, “मङ्गलादौनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते” इति महाभाष्यवाक्यञ्चानुसरन्, निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तये स्वाभीष्टदेवस्य परमश्रेयो-विधायकत्वेन कल्याणकामो खवर्गाशाम् आशिषम् आशसते, श्रियमिति ।—देवः,—दीव्यति क्रीडति इति देवः, समस्त-भुवनानामुत्पत्तिपालनसंहाररूपक्रीडाकारौत्यर्थः, यद्वा,—देव-यति प्रकाशयति स्वात्मभासा सर्वमिति देवः, “तमेव भान्त-मनुभाति सर्वम्” [ मुण्ड० उप० २ खण्ड० १० श्लोकः ] इति श्रुतेः ; स्वात्मभासा जगत्प्रकाशकः ; यद्वा,—दीव्यति सदूपेण त्यदूपेण च सम्पद्यते इति देवः, “सच्च त्यच्चाभवत्” [ तैत्ति० उप० २ वल्ली० ६ श्लोकः ] इति श्रुतेः, निखिलजगदात्मभूत

इत्यर्थः, [ एतेनास्य परमात्मत्वं व्यञ्ज्यते ] श्रीनाभेयजिनः,—  
 श्रिया—शोभया, अणिमादिविभूतिरूपया सम्पदा वा, युक्त इति  
 शेषः, नाभेयः,—नाभेः, उत्पद्यमानः असौ जिनः,—बुद्धः ; यद्वा,  
 —श्रियाः,—सकलशास्त्रज्ञानसमृद्धेः, इनः,—स्वामो, [ एतेनास्य  
 विष्णुस्वरूपत्व सूच्यते ] (“इनः पत्यो नृपार्कयोः” इति मेदिनी )  
 इति श्रीनः ; नास्ति भेयं—भौतिजवजयोग्य वस्तु यस्य इति  
 अभेयः, जिनः,—जितेन्द्रियत्वात् जयशीलः, बुद्ध इत्यर्थः ;  
 ( “जिनोऽर्हति च बुद्धे च पुंसि स्याज्जित्वरे त्रिषु” इति मेदिनी )  
 सदा—सर्वस्मिन् काले, वः,—युष्मभ्यम्, अलङ्कारशास्त्रम् अना-  
 यासेनाधिगन्तुमिच्छद्वा इति यावत्, श्रिय—सम्पदम्, अध्यय-  
 नीयशास्त्रस्यास्य तत्त्वाधिगमरूपाभ्युदयम् इत्यर्थः, दिशतु—  
 ददातु । कः असौ ? इत्याह, मोक्षमार्गम् इति ।—यदागम-  
 पदावली—यस्य—देवस्य, आगमपदावली—सिद्धान्तवाक्य-  
 सन्दोहः, उपदेशवाक्यानौति यावत्, यद्वा,—आगमरूपा पदा-  
 वलीत्यर्थः, अथवा आगमैः,—वेदैः, प्रतिपाद्येति शेषः, पदावली  
 —गुणवर्णनात्मकवाक्यसमूहः इत्यर्थः, यद्वा,—आ—सम्यक्,  
 गमनम्—अपुनरावृत्तये यात्वा इत्यर्थः, तदर्थं पदावली—मोक्ष-  
 मार्गं प्रवृत्तिजनकवाक्यसमूहः, सता—साधूनां, [ कर्मणि षष्ठी ]  
 माक्षमार्गं—निर्वाणपद्धति, समस्तदुःखेभ्यः निस्तारोपायमिति  
 यावत्, ब्रूते—कथयति, केन साधनेन मोक्षां लभ्य इति दश-  
 यति । अस्य पद्यस्य विष्णुदेवतापरत्वमपि सम्भवति ; यथा,—  
 श्री, —लक्ष्माः, नाभेयः,—नाभिदेशोत्पन्नः ब्रह्मा, ताभ्या सह  
 वर्तते यः जिनः,—जयति—परिहरति सर्वमनिष्टम् इति  
 तथोक्तः, विष्णुरित्यर्थः, शेष पूर्ववत् । अत्रादौ शोशब्दोपादानात्  
 वर्णगणादिशुद्धिः । पथ्यावक्तव्यं—“युजोश्चतुर्थतो जिन  
 पथ्यावक्तव्यं प्रकोर्त्तितम्” इति लक्षणात् ॥ १ ॥

प्रथमः परिच्छेदः  
चन्द्रिका  
संक्षेपः

• काव्यफलम्,—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालङ्कारभूषितम् ।

स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥ २ ॥

काव्योत्पत्ती कारणमाह,—

प्रतिभा कारणं तत्र व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम् ।

भृशोत्पत्तिकृदभ्यासं इत्याद्यकविसङ्ख्या ॥ ३ ॥

— सप्रयोजनं काव्यलक्षणनिर्देशपुरःसरं काव्यनिर्माणमुप-  
दिशति, साध्विति ।—साधु,—सनोहरौ, अनर्थकत्वादिखण्डित-  
त्वादिशब्दार्थदोषशून्यतया सहृदयहृदयाकर्षकाविति यावत्,  
यौ शब्दार्थौ, तयोः सन्दर्भः,—रचनं, सङ्घटना वा यत्र तथोक्तं,  
गुणैः,—वक्ष्यमाणैः श्रौदार्यसमतादिभिः, अलङ्कारैः,—वक्ष्यमाणैः  
चित्रादिभिः, भूषितं—राजितं, तथा स्फुटा,—सुव्यक्ताः, रीतयः,  
—वक्ष्यमाणाः पदसङ्घटनाविशेषाः, गौडीवैदर्भीनाटीपाञ्चाल्या-  
दयः इति यावत्, तथा रसाः,—शृङ्गारादयः, तैः उपेतं—युक्तं,  
काव्य—कवेः इदं कर्म तत् तथोक्तं, [ “गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः  
'कर्मणि च” ( ५ । १ । १४ पा० ) इति थञ् ] लक्षणया कवि-  
कर्माभिन्नः अन्य इत्यर्थः, कीर्तये—यशसे, कुर्वीत—रचयेत् ।  
यद्यपि,—“काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।  
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥” इति काव्य-  
प्रकाशकृता, “चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्या-  
देव—” इति साहित्यदर्पणकृता च, काव्यस्य बहुफलाधायकत्व-  
मभिहितं, तथापि अत्र कीर्तये इत्येकमात्रफलकीर्तनम्  
अर्थोपार्जनादीनां कीर्त्यतिरिक्तफलानामपि चरमे यशःप्राप्ति-  
हेतुकतया तत्राधान्यं द्योतयितुम् इति बोध्यम् ॥ २ ॥

काव्योत्पत्ती हेतुमाह, - प्रतिभेति ।—तत्र—काव्यकरणे

प्रतिभामाह,—

प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तिबोधविधायिनी ।

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभा सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥

[“तस्य” इति पाठान्तरम्] प्रतिभा—वक्ष्यमाणलक्षणा नव-  
नवोन्मेषशालिशक्तियुक्ता बुद्धिः, कारण—हेतुः, व्युत्पत्तिः,—  
वक्ष्यमाणलक्षणः बहुशास्त्रालोचनाजनितसंस्कारविशेषः, निपु-  
णता इति यावत्, तु—पुनः, विभूषणं—विशेषशोभाजनकम्  
इत्यर्थः, तथा अभ्यासः,—पुनः पुनः अनुशीलनं, भृशोत्पत्तिकृत्—  
शीघ्ररचनकारक इत्यर्थः, इति आद्यकवीनां—प्राचीनकाव्य-  
कृतां, सङ्गथा—परस्परमिलितोक्तिः इत्यर्थः, अस्ति इति शेषः ।  
एतेन प्रतिभा एव काव्यनिर्माणे कारणं, व्युत्पत्तिस्तु तस्य चारुत्वे  
हेतुः, अभ्यासः प्रभूतप्रणयनहेतुश्चेति निष्कर्षः । उक्तञ्च,—  
“कवित्वं जायते शक्तेर्वर्द्धतेऽभ्यासयोगतः । तस्य चारुत्वनिष्पत्तौ  
व्युत्पत्तिस्तु गरीयसी ॥” इति ॥ ३ ॥

प्रतिभां लक्षयति, प्रसन्नेति ।—प्रसन्नानि—प्रमादगुण-  
युक्तानि, सुललितानि इति यावत्, ( तथाक्त्वं वृत्तिवात्तिककारैः,  
—“नृत्यन्तीव स्फुटत्वात् प्रघोषयन्ते तदेव तात्पर्यम् । तैः स्यात्  
प्रसन्नपदता सहृदयरुचिरा समर्थिता शब्दैः ॥” इति ) पदानि—  
“सुप्तिङन्तं पदम्” ( १।४।१४ पा० ) इत्युक्तनयेन सुप्तिङन्ताः  
शब्दाः, तेषां, नव्याः,—नवीनाः, पूर्वैः अनुज्ञाविक्ताः ये अर्थाः,  
—प्रतिपाद्यविषयाः, अभिनववर्णनीया इत्यर्थः, तैः युक्तिः,—  
सम्प्रयोजन, ललितपदानां नूतनवर्णनोपयवस्तुभिः सह मङ्गलना  
इत्यर्थः, तत्र बोधं—ज्ञानं, विधत्ते इति तथाभूता, तद्बोध-  
कारिणो इत्यर्थः, यद्वा,—प्रसन्नपदानि च नव्यार्थाश्च युक्तयश्चेति  
तद्बोधविधायिनीत्यर्थः, [“युक्त्यद्बोधविधायिनी” इति पाठान्तरे-  
ऽपि नार्थपार्थक्यम्] स्फुरन्ती—दीप्यमाना, सर्वतोमुखी—

व्युत्पत्तिमाह,—

शब्दधर्मार्थकामादिशास्त्रेष्वाम्नायपूर्विका ।

प्रतिपत्तिरसामान्या व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥ ५ ॥

समेन्तात् प्रसारिणी, सत्कवेः,—प्रशस्तकाव्यरचयितुः, बुद्धिः,—  
प्रज्ञा, प्रतिभा, उच्यते इति शेषः । इयमेव शक्तिरूपेण निरूपिता  
रुद्रटेन,—“मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाऽभिधे-  
यस्य । अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥  
प्रतिमेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति । पुंसा  
सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा ॥ स्वस्याऽसौ संस्कारे  
परमपरं सुगयते यतो हेतुम् । उत्पाद्या तु कथाञ्चिद् व्युत्पत्त्या  
जन्यते परया ॥” इति ॥ ४ ॥

व्युत्पत्तिं लक्षयति, शब्देति ।—“इद्वान्ते श्रूयमाणशब्दानां  
प्रत्येकमभिसम्बन्धः स्यात्” इति शब्दादीनां प्रत्येकं शास्त्रशब्देन  
अन्वयः, तथा च,—शब्दशास्त्राणि—व्याकरणादीनि, धर्म-  
शास्त्राणि—मनुस्मृत्यादीनि, अर्थशास्त्राणि—राजनीत्युपदेश-  
प्रधानानि शुक्रनीति-विदुरनीतिप्रभृतीनि, कामशास्त्राणि—  
वाल्म्यायनादिप्रणीतानि कामसूत्रादीनि, चतुःषष्टिविधकला-  
शिच्चा इति यावत्, [ आदिशब्दात् कन्दोऽलङ्कारादेः ग्रहण ]  
तेषु, आम्नायः,—गुरुपरम्परया उपदेशः, पूर्वः यस्यां तथा-  
विधा, असामान्या—असाधारण्यौ, प्रतिपत्तिः,—बोधः, व्युत्पत्ति  
अभिधीयते—उच्यते । तथोक्त रुद्रटेन,—“कन्दो व्याकरण-  
कला-लोकस्थिति-पद-पदार्थविज्ञानात् । युक्तायुक्तविवेको व्युत्प-  
त्तिरियं समासेन ॥ विस्तरतस्तु किमन्यत् तत इह वाच्यं न  
वाचकं लोके । न भवति यत् काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्येषा ॥”  
इति ॥ ५ ॥

अभ्यासमाह,—

अनारतं गुरुपान्ते यः काव्ये रचनादरः ।

तमभ्यासं विदुः ॥ ६ ॥

तद्व्यकारमाह,—

तस्य क्रमः कोऽप्युपदिश्यते ॥

विभ्रत्या बन्धचारुत्वं पदावल्यार्शुशून्यया ।

वशीकुर्वीत काव्याय क्वन्दांसि निखिलान्यपि ॥७॥

अभ्यासं लक्षयति; अनारतमिति ।—अनारतम्—अविरतं, गुरोः,—आचार्यस्य, उपान्ते—समीपे, काव्ये—तस्मिन् विषये, यः रचनादरः,—गुम्फनयत्नः, तम् अभ्यासं विदुः, बुधाः इति शेषः । तथोक्तं रुद्रटेन,—“अधिगतसकलज्ञेयः सुकवेः सुजनस्य सन्निधौ नियतम् । नक्तन्दिनमभ्यस्येदभियुक्तः शक्तिमान् काव्यम् ॥ सम्पादितं ततः स्याद्विलक्षणत्वं यदेव सोऽभ्यासः ॥” इति ॥ ६ ॥

ननु अभ्यासः कौटुम्भः कार्यः ? इत्याशंसायां तदुपदेष्टुं क्वन्दसाम् उपयोगं तद्वशीकरणोपायञ्चाह, तस्येति ।—तस्य—अभ्यासस्य, कः अपि—कश्चित्, सङ्घिन इति यावत्, क्रमः,—प्रकारः, उपदिश्यते—शिष्यते । बन्धे—कवितारचनायां, चारुत्वं—मनोज्ञत्वं, विभ्रत्या—दधत्या, अर्थशून्यया—निरर्थकया, [अपिरत्नाध्याहार्यः] किं पुनः अर्थयुक्तया इति भावः, पदावल्या—पदानां—सुबन्तानां तिङन्तानाञ्च, आवली—समूहः, तथा, निखिलानि—समस्तानि, क्वन्दांसि—श्रीप्रभृतौनि वृत्तानि, काव्याय—काव्यरचनायै, काव्यरचनाविधिमभ्यसितुमिति यावत्, [तुमर्थेयं चतुर्थी] वशीकुर्वीत—आयत्तौकुर्वीत । कवितोत्कर्षतां चिकीर्षुर्हि प्रथममर्थनिरपेक्षसुललितपदविन्यासाभ्यासेन क्वन्दसां पूरणं स्वायत्तं कुर्वीतिति भावः । तथा

पश्चाद् गुरुत्वं संयोगाद्विसर्गाणामलोपनम् ।  
विसन्धिवर्जनञ्चेति बन्धचारुत्वहेतवः ॥ ८ ॥

अन्यथा बन्धस्याचारुत्वमित्युदाहरति,—

श्रिते क्लृपाणे विधृते त्वया घोरे रणे क्लृते ।

ब्रध्नीश । क्षितिपा भीत्या वन एव गता जवात् ॥ ९ ॥

च,—“ग् श्रीः” इत्येकाक्षरा वृत्तिः । अत्र उदाहरणं,—“श्रीस्ते सास्ताम्” इत्यत्रार्थयुक्तया पदावल्या एकाक्षरं छन्दः, निरर्थकया पदावल्या एकाक्षरवृत्तपूरणन्तु “का खा गा घा” इति ; तदेवं निरर्थकाभ्यासेऽपि छन्दसः वशोकरणं भवति इति भावः । अत्र “पदावल्या—पदपरम्परया अष्टगणरूपया” इति केनचित् व्याख्यातं, तन्न समीचीनम् ; अर्थशून्यया इति तद्विशेषणस्य अनुपपत्तेः, गणानाञ्च तेषां—“मस्तिगुरुस्ति लघुश्च नकारो भादिगुरुः पुनरादिलघुर्यः । जो गुरुमध्यगतो र-लमध्यः सोऽन्तगुरुः कथितोऽन्तलघुस्तः ॥” इति पारिभाषिकत्वेन अर्थवत्त्वात्, इति बोध्यम् ॥ ७ ॥

रचनायाश्चारुत्वसम्पादने प्रकारमाह, पश्चादिति ।—संयोगात्—संयुक्तवर्णात्, पश्चात्—पूर्वम् इत्यर्थः, गुरुत्व—गुर्वक्षरवदुच्चारणं, विसर्गाणाम् अलोपनं—लोपाकरणं, विसर्गसङ्गावस्य ओजोगुणजनकत्वादिति भावः ; तथा विसन्धिवर्जनं—विरुद्धः,—श्रुतिदुष्टत्वावहत्वेन अमनोरमः, असौ सन्धिः,—सहिता, तस्य वर्जनम्—अकरणं, विकटसन्धिपरित्याग इत्यर्थः, इति—एते, त्रय इति शेषः, बन्धचारुत्वस्य—रचनालालित्यस्य, हेतवः,—कारणानि भवन्तीति शेषः ॥ ८ ॥

एवं रचनायाः मनोरमत्वसाधनोपायानभिधाय अन्यथा तस्या अमनोरमत्वमेवोद्घामिति बोधयितुं तदुदाहरणं दर्शयति,



यावत्सत्कवित्वमभ्यस्येदित्याह,—

अनुल्लसन्त्यां नव्यार्थयुक्तावभिनवत्वतः ।

अर्थसङ्कलनातत्त्वमभ्यसेत् सङ्कथास्वपि ॥ १० ॥

शिते इति ।—हे ब्रधोश !—नृणां—मनुष्याणाम्, अधोशः,—  
निग्रहानुग्रहविधाद्वत्वेनाधीश्वरः, तत्सम्बद्धौ तथोक्त नरपते !  
इति यावत्, त्वया शिते—तीक्ष्णे, कृपाणे—करवाले, विष्टते—  
करणे गृहीते, तथा घोरे—भयावहे, रणे—सङ्ग्रामे, कृते सति,  
क्षितिपाः,—राजानः, भीत्या—भयेन, जवात्—वेगात्, त्वराऽति-  
शयात् इत्यर्थः, वने एव गताः,—युद्धं राज्यञ्च परित्यज्य स्वान्  
प्राणान् रक्षितुं निर्जनं देशं प्रस्थिताः, सर्व्वं विज्ञाय पलायिताः  
इत्यर्थः । अत्र “विष्टते त्वया” इत्यत्र “ते” इत्यंशस्य स्वाभाविके  
गुरुत्वे विद्यमाने “त्व” इति सयुक्तवर्णकृतो गुरुत्वाभावः, परं  
“ब्रधोश” इत्यत्र सन्धेर्वैकल्यं, तथा “क्षितिपा भीत्या” इत्यत्र  
विसर्गलोपः चारुत्वं व्यपोहति, अत एव चन्द्रालोककृतोक्त,—  
“स्याच्चेतो विशता येन सच्चता रमणोयता । शब्देऽर्थे च  
कृतोन्मेष दोषमुद्घोषयन्ति तम् ॥” इति ॥ ९ ॥

यावत् सत्कवित्वाऽऽपादकं, नवनवार्थस्फुरणं न स्यात्  
तावत् तदर्थमभ्यस्येदित्याह, अनुल्लसन्त्यामिति ।—अभिनव-  
त्वतः,—अभिनवत्वात्, अभिनवत्वेन प्रयोज्यत्वात् इत्यर्थः,  
नव्यार्थस्य—नूतनस्य, पूर्व्वे. अनुज्ञावितस्य इति भावः, अर्थस्य—  
प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः, वर्णनीयस्य विषयस्य, युक्तौ—योजने,  
रचने इति यावत्, अनुल्लसन्त्याम्—अपरिस्फुरन्त्याम्, अजाय-  
मानायामित्यर्थः मत्यां, सङ्कथासु—परस्परस्वाक्येषु, लौकिक-  
व्यवहारकथास्त्विति यावत्, अपि—किमुत काव्यरचनायाम् ?  
इति अपिशब्दार्थः, अर्थानां सङ्कलनातत्त्व—संयोजनास्वरूपं,

उदाहरति,—

आगम्यतां सखे । गाढमालिङ्गाऽत्र निषीद च ।

सन्दिष्टं यन्निजभ्रातृजायया तन्निवेदय ॥ ११ ॥

अन्यार्थं नापहरदित्याह,—

परार्थबन्धाद् यश्च स्याद्भ्यासो वाच्यसङ्गतौ ।

स न श्रेयान् यतोऽनेन कविर्भवति तस्करः ॥ १२ ॥

रचनाप्रकारमिति यावत्, कथम् अर्थसंयोजनं सुचारुतया कर्तव्यम् ? इति जिज्ञासामिति भावः, अभ्यसेत्—पुनः पुनः अनुशीलयेत् । “अभ्यसेत्” इति क्रियापदान्तु नामधातुना कथञ्चित् साधनीयम् ॥ १० ॥

अभ्यामकालिकं वाक्यमुदाहरति, आगम्यतामिति ।— गृहात् आगतं सुहृदं प्रति कस्यचित् प्रोषितस्य उक्तिरियम् । हे सखे !—मित्र । आगम्यताम्—आगमनं क्रियता, स्वागतं ते स्यादिति भावः, गाढम् आलिङ्ग्य—आस्निष्य, अत्र—अस्मिन् स्थाने, मत्सन्निधौ इति यावत्, निषीद च—उपविश च, निजभ्रातृजायया,—निजभ्रातुः,—स्वकीयभ्रातुः, लक्षणया तत्सदृशस्य ममेत्यर्थः, जायया—पत्न्या, मत्पत्न्येत्यर्थः, [ भ्रातृशब्देन समादरातिशयः व्यज्यते ] यत् सन्दिष्ट—वाचिकं प्रेषितं, तत् निवेदय—कथय । यद्यपि सर्वत्रेवेद लौकिकं वाक्यम्, “आगम्यतां” “निषीद” इत्यादीनि क्रियापदानि च भग्नप्रक्रमाणि, तथाऽपि अभ्यासावस्थायां नव्यार्थयुक्तेरस्फुरणात् युज्यन्ते; एवमपि पुनः पुनरनुशीलने कृते स्वयमेव दोषज्ञानं भूत्वा निर्दोषं काव्यं परिस्फुरेत् इति उदाहरणतात्पर्यम् ॥ ११ ॥

अन्यदीयमर्थमादाय काव्यं न विधेयमित्याह, परार्थेति । —वाच्यस्य—अभिधेयस्यार्थस्य, सङ्गतौ—[ विषये संसमीयम् ] सामञ्जस्यविधानार्थम् इत्यर्थः, परार्थबन्धात्—परस्य—अन्यस्य

परकाव्यग्रहोऽपि स्यात् समस्यायां गुणः कवेः ।

अर्थं तदर्थानुगतं नवं हि रचयत्यसौ ॥ १३ ॥

कवेः इति भावः, अर्थबन्धः,—प्रतिपाद्यरचनं, तस्मात्, [ ल्यब्लोपे पञ्चमी ] तम् अवलम्ब्य इत्यर्थः; यः अभ्यासः,—वाग्विरचने पुनः पुनः यत्नः, स्यात्, सः,—अभ्यासः, न श्रेयान्—न शुभकरः; यतः,—यस्मात्, अनेन—एवविधाऽभ्यासेन इत्यर्थः, कविः तस्करः,—चौरः, तद्वत् निन्दी वा भवति । यथोक्तम्,—

“परस्य काव्यं स्वमिति ब्रुवाणो

विज्ञायते जैरिह काव्यचौरः ।

विलोक्य माणिक्यमयोग्यहस्ते

प्रत्येति को नाम यदैतदस्य ? ॥” इति ।

अत एव साहित्यदर्पणकृताऽप्यभिहितम्,—

“कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते ।” इति ॥ १२ ॥

कुत्र परार्थबन्धग्रहणं गुणाय इत्याह; परेति ।—समस्यायां—परकृतश्लोकादेः असमग्रीक्तस्य अंशपूरणार्थं प्रश्ने इत्यर्थः; परकाव्यग्रहः,—परकाव्यस्य—परकीयस्य वाक्यस्य, ग्रहः,—ग्रहणं, तत्पूर्त्यर्थमुपादानम् इति भावः; गुणः—स्यात्, अन्यथा तत् असङ्गतं स्यादिति तात्पर्यम्; हि—यतः, असौ—उत्तरदाता कविः इत्यर्थः, तदर्थानुगतं—तस्याः,—समस्यायाः, अर्थानुगतम्—अर्थसङ्गतं, नवम् अर्थं रचयति—निबध्नाति । समस्या नाम परकीयस्य पद्यस्य पादं पादांशं पादद्वयं वा आदाय, अवशिष्टांशपूरणात् पद्यरूपेण तदर्थस्य समर्थनम्, अतः परकीयपद्यांशस्य स्वप्रतिभोत्थापितेन अर्थेन समर्थनार्थं हरणमपि न हरणम्, न च कवेः चौरत्वमपीति ॥ १३ ॥

अर्थस्फूर्तेहेतूनाह,—

मनःप्रसत्तिः प्रतिभा प्रातःकालेऽभियोगिता ।

अनेकशास्त्रदर्शित्वमित्यर्थालोकहेतवः ॥ १४ ॥

अर्थप्रकाशनप्रकारमाह,—

समाप्तमिव पूर्वाह्ने कुर्यादर्थप्रकाशनम् ।

तत्पुरुषबहुव्रीही न मिथः प्रत्ययावहौ ॥ १५ ॥

अर्थस्फुरण कथं स्यादित्यपेक्षाया तदुपायभूतान् हेतूनाह, मन इति ।—मनःप्रसत्तिः,—मनसः प्रसादः, चित्तवृत्तेः प्रसन्नता इत्यर्थः, प्रतिभा—“प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्तिबोधविधायिनी । स्फुरन्तो सत्कवेर्बुद्धिः” इति “प्रज्ञा नवनवोल्लेखशालिनो प्रतिभा मता” इत्युक्तलक्षणा वा बुद्धिः, प्रातःकाले—प्रभाते, तदानीं चित्तवृत्तेः निर्मलत्वस्य स्वतःसिद्धत्वात्, अभियोगिता—रचनाया प्रवर्तनम् इत्यर्थः, [“प्रातःकालोऽभियोगिता” इति पाठान्तरे तु प्रातःकालः,—प्रभातसमयः, अभियोगिता—उद्योगित्वम्, अभिनवार्थान्निष्करणविषयकयत्नपरत्वमिति यावत् ] तथा अनेकशास्त्रदर्शित्व—बहुशास्त्रावलोकनम्, इति—एते इत्यर्थः, अर्थालोकहेतवः,—अर्थानां—प्रतिपाद्यवस्तूनाम्, आलोके—उद्भावने, हेतवः,—कारणानि ॥ १४ ॥

प्रतिपाद्यार्थप्रतिपादनप्रकारमुपदिशति, समाप्तमिति ।—

पूर्वाह्ने—पूर्वभागे, श्लोकस्य इति शेषः, अर्थप्रकाशनम्—अर्थस्य—श्लोकपूर्वाह्णप्रतिपाद्यस्य, प्रकाशन—विधानं, समाप्तम् इव—प्रायेण समाप्तम् इत्यर्थः, अत एव द्वितीयपादान्तद्वितीयपादयोः सन्धिः समासश्च न करणीय इत्यपि बोध्यम् । तथा तत्पुरुषबहुव्रीही—तन्नाम्नानौ समासो, मिथः,—परस्पर, प्रत्ययावहौ—विश्वासयोग्यो, न—नैव काय्यौ, असन्दिग्धौ काय्यौ इति

कर्त्तव्यविशेषमाह,—

एकस्यैवाभिधेयस्य समासं व्यासमेव च ।

अभ्यसेत्कर्त्तुमाधानं निःशेषालङ्क्रियास्त्वपि ॥ १६ ॥

यावत् । यथा,—“द्वत्रशतुः” इत्यत्र किं “द्वत्रस्य शतुः” इति तत्पुरुषः ? उत,—“द्वत्रः शतुः यस्य” इति बहुव्रीहिः ? इत्यसंशयसहितौ न कुर्यात् इति भावः । केचित् तु—“षष्ठौ तत्पुरुषं रामो बहुव्रीहिं पिनाकधृक् । प्राह रामेश्वरे नाम्नि ब्रह्माद्याः कर्मधारयम् ॥” इत्यादौ तु वक्तव्यबोद्धव्यभेदात् एकस्मिन्नपि पदादौ समासभेदस्तु न दूषणीय इत्याहुः ॥ १५ ॥

तत्र काव्यनिर्माणे वाक्यार्थानामलङ्काराणाञ्च आरोपाभ्यामकर्त्तव्यतामुपदिशति, एकस्येति ।—एकस्य एव अभिधेयस्य—प्रतिपाद्यस्य, वर्णनीयस्य इत्यर्थ, समासं—सङ्क्षेपेण कथनं, व्यासं—विस्तरेण कथनञ्च, ( यथा,—“चन्द्रः” इति एकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये—“अत्रेर्नयनसमुत्थ ज्योतिः” इति ; यथा वा,—“वरवर्णिनी” इति वक्तव्ये—“निदाघशीतल-हिम-कालोष्णसुकुमारमर्वावयवा” इति ) तथा निःशेषासु—समयासु, अलङ्क्रियासु—अलङ्कारेषु, अनुप्रासोपमादिषु इति यावत्, अपि, आधानम्—आरोपण, कर्त्तुम् अभ्यसेत्—अनुशीलयेत्, काव्यनिर्माणे दाक्षिण्य प्रतिपित्तुः इति कर्त्तृपदम् अत्राध्याहार्यम् । अनुप्रासादौ शब्दालङ्कारे आरोपणन्तु वर्णपदतदेकदेशानामन्यतमस्य तत्सजातीयवर्णाद्यावर्त्तनं न तदेकस्थानोच्चार्यत्वेन च सदृशोत्तररूप बोध्यम् ; तत्र सजातीयवर्णानां पुनरावर्त्तनरूपं यथा,—“आदाय वकुलगन्धान् माहयन्” इत्यादौ, तथा “काविरोजलपावनी वायुः” एव वक्तव्ये—“मोहयन्” इत्यत्र “अन्धयन्” इति, “जल” इत्यत्र “वारि” इति,

उपदेशान्तरम्,—

स्यादनर्हान्तपादान्तेऽप्यशैथिल्ये लघुर्गुरुः ।

पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः ॥ १७ ॥

“वायुः” इत्यत्र च “पवनः” इति; तथा छेकानुप्रास-यमकादीना-  
सुदाहरणेऽपि ज्ञेयम् । उपमादावर्थालङ्कारे च “अस्या सुखम्”  
इति सुखस्य वर्णनीयत्वे “चन्द्र इव सुखम्” इति चन्द्रसाम्य-  
प्रतीतिरूपमुपमया, “चन्द्र इव सुखं सुखमिव चन्द्रः” इत्युप-  
मेयोपमया, “सुख सुखमिव” इत्यनन्वयेन, “सुखमिव चन्द्रः”  
इति प्रतीपेन, “चन्द्रं समीक्ष्य सुखं स्मरामि” इति स्मरणेन,  
“सुखमेव चन्द्रः” इति रूपकेण, “सुखचन्द्रेण दुःखं नश्यति”  
इति परिणामेन, “किमिदं सुखम्? उत चन्द्रः?” इति  
सन्देहेन, “चन्द्रोऽयं न सुखम्” इत्यपह्नवेन, “नून चन्द्रः”  
इत्युत्प्रेक्षया, “चन्द्रोऽयम्” इत्यतिशयोक्त्या, “मुखेन चन्द्रकमले  
विजिते” इति तुल्ययोगितया, “रात्रौ तत्र सुखं चन्द्रश्च शोभते”  
इति दीपकेन, “दिवि चन्द्रो भुवि तव सुखम्” इति दृष्टान्तेन,  
“सुखं चन्द्रश्चिद्य धारयति” इति निदर्शनया, “अकलङ्कं सुखं  
चन्द्रादतिरिच्यते” इति व्यतिरेकेण, “तव सुखेन समं चन्द्रो  
रजन्या हृष्यति” इति सहोक्त्या, “तव सुखे एवाहं रज्यामि  
चन्द्रे एव चकोरः समासजते” इति प्रतिवस्तूपमया, “चन्द्र इति  
चकोराः कमलमिति चञ्चरीकाः त्वन्मुखे रज्यन्ति” इति उल्ले-  
खेन, “चन्द्र इति त्वन्मुखं चकोराः अनुसरन्ति” इति भ्रान्ति-  
मता, “त्वन्मुखं शोकध्वान्तमपसार्य हृदयकुमुदानि विकाशयति”  
इति समासोक्त्या, “सुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः” इत्यप्रस्तुत-  
प्रशंसया, एवमन्यैरप्यलङ्कारैः समारापणं स्वयन्मूहनीयम् ॥ १६ ॥

अन्यदपि शिक्षणीयं निर्दिशति, स्यादिति ।—अनर्हान्त-

अन्यविधीपदेशः,—

भुवनानि निबध्नीयात् त्रीणि सप्त चतुर्दश ।

अप्यदृश्यां सितां कीर्त्तिमकीर्त्तिञ्च ततोऽन्यथा ॥ १८ ॥

अन्यत्र,—

वारणं शुभ्रमिन्द्रस्य चतुरः सप्त वाऽम्बुधीन् ।

चतस्रः कीर्त्तयेद्वाऽष्टौ दश वा ककुभः क्वचित् ॥ १९ ॥

पादान्ते—प्रथमद्वितीयपादान्ते, अपि—द्वितीयचतुर्थपादान्ते च इत्यर्थः, अशैथिल्ये—निविडबन्धे सति, लघुः गुरुः स्यात्—गुरुत्वेन गण्यते इति भावः, तथा बुधैः,—विद्वद्भिः, पादस्य आदौ, प्रायशः,—प्रायेण, चादयः,—च वा-तु हिप्रभृतयः, न च वक्तव्याः,—नैव योज्या इत्यर्थः । प्रायशः इति ग्रहणात् हे-हन्त-अहोप्रभृतीनां योजने न दोषः इति बोध्यम् ॥ १७ ॥

अन्यदपि उपदिशति, भुवनानीति ।—भुवनानि—जगन्ति, त्रीणि—स्वर्गमर्त्यपातालभेदेन त्रिसङ्ग्रहकानि, सप्त—भूर्भुवः-स्वर्महर्जनतपःसत्यभेदेन सप्तरूपाणि वा, तथा चतुर्दश—पूर्वोक्तानि सप्त, एवम् अतल-वितल-रसातल-सुतल-नितल-तलातल-पातालरूपाणि सप्त इति मिलित्वा चतुर्दशसङ्ग्रहकानि, किञ्च अदृश्याम्—अमूर्त्ताम्, अपि कीर्त्ति—यशः, सिता—शुभ्राम्, अकीर्त्तिञ्च ततः अन्यथा—असिताम् इत्यर्थः, निबध्नीयात्—वर्णयेत् इत्यर्थः । तथोक्त विश्वनाथेन,—“मालिन्य व्योम्नि पापे, यशसि धवलता, वर्ण्यते हासकीर्त्त्योः” इति ॥ १८ ॥

अन्यदप्याह, वारणमिति ।—इन्द्रस्य—देवराजस्य, वारणं—हस्तिनम्, ऐरावतम् इत्यर्थः, शुभ्र—श्वेतम् ; अम्बुधीन्—समुद्रान्, चतुरः,—पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरसमुद्रभेदेन चतु-सङ्ग्रहकान्, वा—अथवा, सप्त—लवणेक्षु-क्षीर-दधि-घृत-सुरा-

ववयोर्डलधोरभेदीपदेश, —

यमकश्लेषचित्तेषु ववयोर्डलयोर्न भित् ।

नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥ २० ॥

तेषामुदाहरणानि यथा, —

शङ्खमानैर्महीपाल । कारागारविडम्बनम् ।

त्वहैरिभिः सपत्नीकैः श्रितं बहुविलं वनम् ॥ २१ ॥

मल्लिसमुद्रभेदेन सप्तसङ्ग्रहकान्, ( तथा चोक्त, — “लवणेक्षुसुरा-  
सर्पिर्दधिदुग्ध-जलान्तकाः । समुद्राः सप्त चैवान्ये” इति ) ;  
तथा ककुभः, — दिशः, चतस्रः, — पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरभेदेन,  
आग्नेयी-नैऋती वायवी-ऐशानी इति चतस्रः विदिशः, पूर्वा-  
दिभिः सह योगात् अष्टौ वा, तथा क्वचित् पूर्वादिभिरष्टभिः  
ऊर्ध्वाधोदिशोः सम्मेलनेन दश वा, कौत्तयेत्—वर्णयेत् ॥ १८ ॥

यमकादिविषये डलयोर्ववयोश्चाभेद चित्ते विसर्गानु-  
स्वारयोश्चित्तभङ्गाभावञ्चोपदिशति, यमकेति ।—यमक-श्लेष-  
चित्तेषु—तदाख्येषु अनुस्वारविशेषेषु, ववयोः,—वर्ग्यान्तःस्थयोः  
इत्यर्थः, तथा डलयो, भित्—भेदः, न गच्छ इति शेषः, तथा  
'अनुस्वारविसर्गौ चित्रभङ्गाय—चित्तस्य—तदाख्यकाव्यविशेषस्य,  
भङ्गाय—व्याघाताय, न सम्मतौ—न गणितौ ॥ २० ॥

यमकालङ्कारे डलयोः ववयोरैक्यमुदाहरति, शङ्खमानै-  
रिति ।—कस्यचिद् राज्ञः पराक्रमस्तुतिरियम् । हे महीपाल !  
—नरपते । त्वहैरिभिः,—तव शत्रुभिः, निर्जितैः इति शेषः,  
कारागारविडम्बन—कारागारे—त्वदीयेऽपराधिवन्धनगृहे विड-  
म्बन—कठोरपरिश्रमादिजनितशरीरक्लेश, शङ्खमानैः,—विचि-  
न्तयद्भिरित्यर्थः, “पंलायनमन्तरेण महाविक्रमात् नरपतेरस्मात्  
अस्माक कथमपि नास्ति मोक्ष.” इति विभ्यद्भिरित्यर्थः, अत एव  
सपत्नीकैः,—सस्त्रीकैः सङ्गि, बहुविलं—बहूनि विलानि—



त्वया दयाद्रेण विभो ! रिपूणां  
न केवलं संयमिता न बालाः ।  
तत्कामिनीभिश्च वियोगिनीभिः  
मुहुर्महीपातविधूसराङ्गाः ॥ २२ ॥

कौटरन्धाणि यस्मिन् तत्, प्रभूतसर्पादिविवराकीर्णमित्यर्थः,  
वनम्—अरण्यं, अत्रितं—गतमित्यर्थः । यद्वा बहु इति च्छेदः ;  
[ तत्पक्षे जाताविकवचनम् ] बहूनि विलानि अरण्यानि च  
यथालाभमाश्रितानि इति भावः । अत्र हि “विडम्बनं”  
“विलं वनम्” इत्येतयोः उलयोः अवयोश्च भेदाभावाङ्गीकारात्  
न यमकत्वहानिः ॥ २१ ॥

श्लेषालङ्कारे अवयोरैक्यमुदाहरति, त्वयेति ।—हे विभो !—  
राजन् !, न केवलं त्वया दयाद्रेण—दयापरवशेन सता, [ प्रयो-  
जककर्तृभूतेन ] महीपातेन—भूलुण्ठनेन, विधूसराणि—  
मलिनानि, अङ्गानि—अवयवाः, येषां तथाभूताः, रिपूणां—  
शत्रूणां, बालाः,—अर्भकाः, [ बलन्ति प्राणन्ति इति बालाः ;  
वर्ग्यवकारात्मकस्य “बलप्राणने” इति भ्वादिगण्णीयबलघातोः  
कर्त्तरि ण-प्रत्ययनिष्पन्नत्वादस्य वकारस्य वर्ग्यत्वं ज्ञेयमित्यभि-  
प्रायः ] पुत्राः कन्याश्च इत्यर्थः, ( “मूर्खेर्ऽर्भके च बालः स्यात्”  
इत्यमरः ) न संयमिताः,—न निरोधिताः, किन्तु, वियोगिनीभिः,  
—पतिवियोगविधुराभिः तत्कामिनीभिश्च,—त्वया निर्जितानां  
रिपूणाम् अङ्गनाभिश्च [ प्रयोज्यकर्त्रीभिः ] मुहुर्महीपातविधूस-  
राङ्गाः बालाः,—[ वल्लते संत्रियते शिरः एभिरिति तथोक्ताः,  
अन्तःस्थावकारात्मकस्य संवरणार्थस्य भ्वादिगण्णीयबलघातोः घञा  
निष्पन्नत्वेन अन्तःस्थात्वमस्य वकारस्य बोध्यम् ; यद्वा वाल्यन्ते—  
चाल्यन्ते, वायुना ये ते बालाः ] केशा इत्यर्थः, ( “चिकुरः कुन्तलो  
वालः कचः केशः शिरोरूहः” इत्यमरः ) न संयमिताः,—न

देव । युष्मद्यशोराशिं स्तोतुमेनं जडात्मकम् ।

उत्कण्ठयति मां भक्तिरिन्दुलेखिव सागरम् ॥ २३ ॥

चन्द्रेडितं चटुलितस्वरधीतसार-

रत्नासनं रभसकल्पितशोकजातम् ।

पश्यामि पापतिमिरक्षयकारकाय-

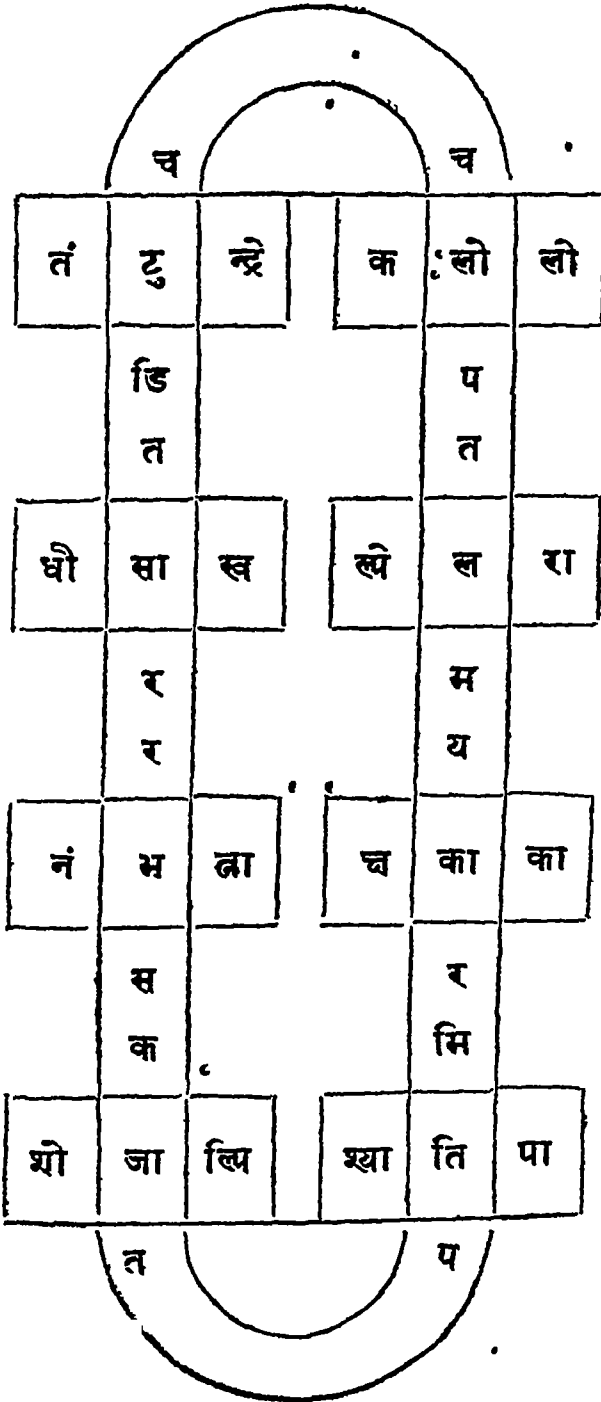
मल्येतरामलतपःकचलोपलोचम् ॥ २४ ॥

बन्धिताः ; त्वमेतावान् सदयः, यत् न केवलं रिपून् विजित्य तदपत्यानि कारायां न निरोधितवान्, अपि तु पतिवियुक्तानां रमणीनां धर्मशास्त्रानुसारेण केशवन्धनादिनिषेधसत्त्वात् तेषां रमणीरपि केशासंयमनरूपं व्रतं समापाद्य रक्षणविद्येन तोषितवानिति भावः । अत्र “वालाः” इति श्लेषे बवयो अभेदः ॥ २२ ॥

एवं श्लेषे बवयोरभेदमुदाहृत्य उलयोरपि अभेदमुदाहरति, देवेति ।—हे देव !—स्वामिन् !, भक्तिः,—प्रेम, भवद्विषयिणी प्रीतिः इति यावत्, इन्दुलेखां—चन्द्रकला, जडात्मक—(उलयोरभेदात्) जलम् आत्मा स्वरूपं यस्य सः जडात्मा, जडात्मा एव जडात्मकः तं, जलमयमित्यर्थः, सागरं—समुद्रम् इव, एन—समीपस्थं, जडात्मक—जडः ज्ञानेन हीनः आत्मा यस्य त, जडस्वरूपं, मूर्खम् इत्यर्थः, मां, युष्माकं यशोराशिं—कीर्तिकलाप, स्तोतुं—वर्णयितुम्, उत्कण्ठयति—उत्सुकयति, प्रेरयति इत्यर्थः, सागरपक्षे—उत्तमयति इति भावः । अत्र “जडात्मकम्” इति श्लेषे उलयोः ऐक्यम् ॥ २३ ॥

चित्रालङ्कारे उकारलकारयोरभेदमुदाहरति, चन्द्रेडितमिति ।—कमपि राजान प्रत्युक्तिरियम् । चन्द्रेडितं—चन्द्रेण ईडितं—स्तुतः, यद्वा चन्द्रः इव ईडितः,—स्तुतः, तं, चन्द्रम् इव सर्वाङ्गादकम् इत्यर्थः, चटुलितस्वरधीतसाररत्नासनं—स्वः,—

## हारवन्धचित्रम् ।

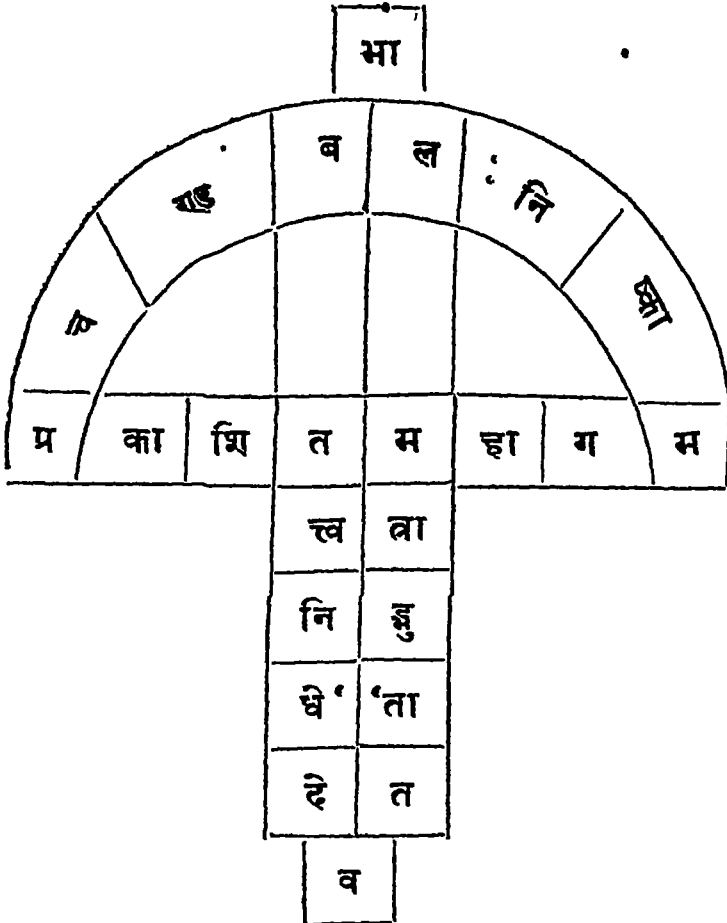


स्वर्गे, अधीतः,—पठितः,—सारः,—उत्कर्षः, बलञ्च यस्य सः स्वर-  
 घीतसारः, इन्द्रः इत्यर्थः, तस्य रत्नासनं—रत्नमयसिंहासनं,  
 चटुलितं—कम्पितं, येन तथाभूतं, रभसकल्पितशोकजातं—  
 रभसेन—वेगेन, भ्रष्टिति इत्यर्थः, ( “रभसो वेगहर्षयोः”  
 इत्यमरः ) कल्पितं—जनितं, शोकजातं—दुःखसम्बुद्धः, शत्रू-  
 णाम् इति शेषः, येन तथाविधं, यद्वा,—रभसेन—हर्षेण, प्रेमो-  
 ख्येन आनन्देनेति यावत्, कल्पितं—खण्डितं, शोकजातं—  
 दुःखसङ्घः, स्वजनानाम् इति शेषः, त, ( “मात्राविन्दुविसर्गाणा  
 च्युतकान्यक्षरस्य च । स्थानव्यञ्जनयोश्चापि च्युतदत्ताक्षरं  
 तथा ॥” इति विदग्धमुखमण्डनोक्तेः अत्र दत्तविन्दुजाति-  
 त्वात् सानुस्वारः पाठः बोध्यः ) पापतिमिरक्षयकारकायं—  
 पापानि एव तिमिराणि—अन्धकाराः, तेषां क्षयकारः,—  
 ध्वंसकारौ, कायः,—शरीरं, यस्य तथोक्तम्, अल्पेतर—  
 प्रभूतं, बहुदौर्घमित्यर्थः, असलं—निष्कामतया शुद्धसङ्कल्पतया  
 वा निर्मलं, यत् तपः, तेन कचाना—केशाना, लोपे—कर्त्तने  
 इति यावत्, लोचः,—दर्शनं, मतिः इति यावत्, यस्य तं,  
 द्यावत् एतद्द्वारं तपश्चरन् स्नेष्टसिद्धिं न करोमि, तावत् केशान्  
 वपिस्थामि इति कृतनिश्चयम् इत्यर्थः, यद्वा,—कचाना—बन्धाना,  
 संसारावरोधानामित्यर्थः, ( “कचः केशे गुरोः सुते ।  
 बन्धे शुष्कव्रणे पुंसि, करिष्यान्तु कचा स्त्रियाम्” इति मेदिनौ )  
 लोपं—विनाश, लोचयति—दर्शयति, तथोक्तं निष्कामदौर्घ-  
 भगवदाराधनेन भवबन्धनमोचनमनुभवन्तमित्यर्थः, अथवा, क  
 —सुखं, चला—लक्ष्मीः, ब्रह्मज्ञानसमृद्धिरित्यर्थः, ते उपलोच-  
 यति—दर्शयति इति तथोक्तं, भवन्तम् इति ऊह्य, पश्यामि ।  
 अत्र हारबन्धचित्रे “चन्द्रेडितम्” इति प्रथमं उकारः, “चटुलित”  
 इति पुनः लकार, इत्यनयोः उलयोः ऐक्यम् ॥ २४ ॥

प्रचण्डबल ! निष्काम ! प्रकाशितमहागम ! ।

भावतत्त्वनिधे ! देव ! भालमत्वाङ्गता तव ॥ २५ ॥

छत्रबन्धचित्रम् ।



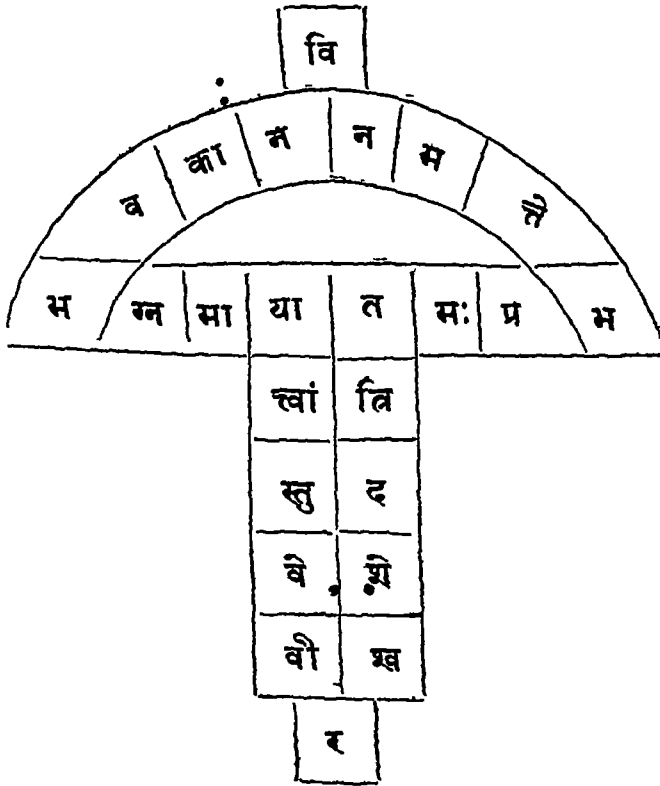
छत्रबन्धचित्रे बकारवकारयोरभेदमुदाहरति, प्रचण्डेति ।—  
 हे प्रचण्डबल !—प्रचण्डं—शत्रोः पराभावकतया भयङ्कर, बलं  
 —पराक्रमः, यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त, हे निष्काम !—निष्कृष्ट !,  
 अर्थलोभशून्येत्यर्थः, यद्वा निष्कष्टः,—अपक्वष्टः, कामः,—कन्दर्पः,  
 यस्मात् तत्सम्बुद्धौ, रूपसम्पदा न्यक्तमदनेत्यर्थः ; हे प्रकाशित-  
 महागम ।—प्रकाशितः,—आविष्कृतः, महान् आगमः,—  
 शास्त्रम् अर्थोपार्जनपद्धतिश्च, येन तत्सम्बुद्धौ ; भावानां—

चित्रे क्ववन्ध, —

भवकाननमत्तेभ । भग्नमायातमःप्रभ । ।

विनयात् त्वां स्तुवे वीर ! विनतत्रिदशेश्वर ! ॥ २६ ॥

क्वचबन्धचित्रम् ।



पदार्थानां, तत्त्वं—स्वरूपं, तस्य निधिः;—निलयः, तत्सम्बुद्धौ,  
सर्वतत्त्वविदित्यर्थः ; यद्वा,—भावः,—हृदयान्तर्वर्ती सङ्कल्प-  
विशेषः, स एव तत्त्वं—रहस्यं, तस्य निधिः तत्सम्बुद्धौ ; देवः  
अत्र—संसारे, तव भा—दौष्टिः, प्रभावः इति यावत्, अलम्—  
अत्यर्थम्, अङ्गता—चमत्कारिणी, वर्त्तते इति शेषः । अत्र क्वच-  
चित्रे “बल” इति प्रथमं वकारः, “भाव” इत्यत्र पुनः वकारः  
इत्यनयोः वर्गान्तःस्थयोः बवयोरैक्यम् ॥ २५ ॥

प्रसङ्गात् क्वात्राणां कौतुकनिर्वर्त्तनाय बवयोरभेदमदर्शय-

काव्यनिर्माणकाल, —

अधीत्य शास्त्राण्यभियोगयोगा-

दध्यासवश्यार्थपदप्रपञ्चः ।

तं तं विदित्वा समयं कवीनां

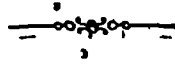
मनःप्रसक्तौ कवितां विदध्यात् ॥ २७ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे प्रथमः परिच्छेदः ॥ १ ॥

अपि छत्रबन्धचित्रमुदाहरति, भवेति ।—कस्यचित् गुरोः महात्मनो वा स्तुतिरियम् । भवः,—संसारः, एव काननम्—अरण्यं, तत्र मत्तः,—उद्धतः, मत्त इव इत्यर्थः, निर्भय इति यावत्, इमः,—गजेन्द्रः, तत्सम्बोधनं, हे भवकानन-मत्तेभ !—मत्तगजी यथा अरण्यस्थवृक्षराजीमुन्मूलयति, तद्वत् तत्त्वज्ञानदानेन संसारोच्छेदनिपुण ! इत्यर्थः, यद्वा,—जीवन्मुक्ततया काननोपमे संसारे, मत्तगजेन्द्रवत् संश्रयणील इति भावः; हे भग्नमायातमःप्रभ ।—भग्ना—नाशिता, माया-तमसः,—मायारूपस्य ( अविद्याऽऽत्मकस्य ) अन्धकारस्य, प्रभा—विकाशः, प्रभाव इत्यर्थः, येन ; यद्वा,—भग्न—विनाशितं, मायातमः,—माया,—अविद्या एव, तमः,—तिमिरं, येन, तथा,—प्रभाति—विद्योतते तेजसेति प्रभः, प्रकृष्टा भा कान्ति-र्यस्य इति वा, भग्नमायातमाश्वासौ प्रभश्चेति [कर्मधारयसमासः] तत्सम्बोधनम् ; हे विनतत्रिदशेश्वर ।—विनतः त्रिदशेश्वरः,—देवेन्द्रः, यस्य तत्सम्बुद्धिः ; वीर ।—शूर । विनयात् [ ल्यब्लोपे पञ्चमी ]—विनयम् अनुसृत्य इत्यर्थः, त्वा—भवन्तं, स्तुवे—स्तौमि । इदमुदाहरणं केवलं चित्रनिर्माणशक्तिनिदर्शनाय “चित्रे बर्चयोरेक्यं सम्भवति” इति प्रदर्शनप्रसङ्गविरुद्धत्वात् ॥ २६ ॥

कवितारचनोपयोगिनं समयं निदर्शयति, अधीत्येति ।—

## द्वितीयः परिच्छेदः ।



काव्यशरीरमाह,—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।

इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥ १॥

अभियोगयोगात्—अभिनिवेशवशात्, चित्तैकाग्रेण निरन्तर  
परिश्रम कृत्वेति यावत्, शास्त्राणि—हितानुशासनग्रन्थान्,  
व्याकरणालङ्कारादीनित्यर्थः, अधीत्य—पठित्वा, अभ्यासेन—  
तत्तच्छास्त्राणाम् अनुशीलनेन, निर्माणशिक्षापाठवोप्रादानेनेति  
यावत्, वश्यः,—वशङ्कतः, आयत्तीकृतः इत्यर्थः, अर्थानाम्—  
अभिधेयानां, पदानां—सुबन्ततिङन्तानां शब्दानाञ्च, प्रपञ्चः,  
—समुदायः, यस्य तथाभूतः मनु, कवीनां—प्राचीनकाव्यकर्तृ-  
णाम् इति भावः, तं त समयं—पूर्वोक्त सिद्धान्तं, विदित्वा—  
ज्ञात्वा, मनसः,—चित्तस्य, प्रसत्तौ—प्रसन्नताया, अशेषसंसार-  
कार्यचिन्ताऽभावत्वेन निर्मलतायामित्यर्थः, सत्या, कवितां—  
काव्य, विदध्यात्—रचयेत्, कविरिति शेषः ॥ २७ ॥

इति प्रथमपरिच्छेद ॥ १ ॥

चतुर्विधभाषायाः काव्यशरीरत्व प्रतिपादयति, संस्कृत-  
मिति ।—संस्कृत—शास्त्रानुशासनप्रतिपन्न, सञ्ज्ञातसंस्काररूप  
वा भाषण, प्राकृत—संस्कृतस्यापभ्रंशशब्दा भाषाविशेषः, तस्य  
—प्राकृतस्य, अपभ्रंश,—लक्षणया, प्राकृतभाषाव्याकरण  
शासनानुगतो भाषाविशेषः, तथा भूतभाषित—पैशाची  
भाषा इत्यर्थः ; इयमेव मिश्रेत्यपरैरुक्ता, तथाहि काव्यादर्शे,



संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।

प्राकृतं तज्जं तत्तुल्यं देश्यादिकमनेकधा ॥ २ ॥

—“तदेतद् वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा । अपभ्रंशश्च  
मिश्रञ्चेत्याहुरार्याश्चतुर्विधम् ॥” इति । इति चतस्रः अपि  
भाषाः काव्यस्य कायताम्—अवयवत्व, यान्ति—प्राप्नुवन्ति ।  
उक्ताभिः चतसृभिः भाषाभिः काव्यं विरच्यते इति भावः ।  
एतेन भाषाणां शब्दार्थस्वरूपत्वात् शब्दार्थौ काव्यशरीरमित्वा-  
यातम् । तथा चोक्तं दण्डिना,—“शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना  
पदावली” इति । तस्य च अनर्थकत्वादिदोषाः देहस्य काणत्वा-  
दय इव अपकर्षकाः । न च दोषरहितस्यैव शब्दार्थस्य काव्यत्व-  
मिति वाच्यं, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तासम्भवात्, सदाप्यस्यापि  
काव्यत्वाङ्गीकारात्, “अदुष्टमेव तत् कीर्त्ये” “इति दोषविष-  
निषेकैः” इत्यादिवच्यमाणोक्त्वा निर्दोषस्य प्रशंसितत्वाच्च ।  
तथा औदार्यादिगुणानामपि उल्कर्षमात्राधायकत्वं, न तु  
स्वरूपजनकत्वम्, “अदोषावपि” इत्यादि वच्यमाणप्रशंसोक्तेः ।  
तथा चोक्तं विश्वनाथेनापि,—“उल्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणा  
लङ्काररीतयः” इति ॥ १ ॥

संस्कृतादिभाषाचतुष्टयं निरूपयति द्वाभ्यां,—संस्कृतमिति ।  
—स्वर्गिणां—देवानां, भाषा—भाषणं, संस्कृतं, कथ्यते बुधैः  
इति शेषः ; ( अत्र “सा भाषा” इति ऊह्यम् ) शब्दशास्त्रेषु—  
व्याकरणशास्त्रेषु, निश्चिता—निरूपिता ( इति एकविधम् ) ;  
प्राकृत—तदाख्या भाषा, तज्जं—तस्मात्—संस्कृतात्, जातम्  
इत्यर्थः, तथा तत्तुल्यं—तेन संस्कृतेन तुल्यं, प्रायशः सदृशम्  
इत्यर्थः, ( इति द्वितीयविधम् ), तथा देश्यादिकां—देश्येषु

अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।  
यद्भूतैरुच्यते किञ्चित् तद्भौतिकमिति स्मृतम् ॥ ३ ॥

काव्यस्य द्वैविध्यमाह,—

छन्दोनिबद्धमच्छन्द इति तद्वाङ्मयं द्विधा ।

पद्यमाद्यं तदन्यच्च गद्यं मिश्रञ्च तद्वयम् ॥ ४ ॥

भव—देश्यं, तद्व्युत्पत्तिकम् इत्यर्थः, अतः अनेकधा—बहुधा, प्राकृतम् इति शेषः ; तथोक्तं काव्यादर्शकृता,—“संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । तद्भवस्तत्समो देशोत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥ महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृतं प्राकृतं विदुः । सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥ शौरसेनी च गौडौ च लाटी चान्या च तादृशी । याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ॥” इति (सेतुबन्धः,—तदाख्यकाव्यग्रन्थ-विशेषः ; यन्मय—यत्स्वरूपम्) ॥ २ ॥

एव संस्कृतप्राकृते उक्त्वा अपभ्रंशं भूतभाषितञ्चाह, अपभ्रंश इति ।—तत्तद्देशेषु—तेषु तेषु कर्णाटादिषु देशेषु, यत् शुद्धम्—अविमिश्र, साधु इत्यर्थः, भाषितं—भाषणं, सः अपभ्रंशः । भूतैः,—देवयोनिविशेषैः, यत् किञ्चित् उच्यते, तत् भौतिकम् इति स्मृत—कथितम् । तथोक्तं काव्यादर्शकृता,—“आभीरादि-गिरः काव्येवपभ्रंश इति स्मृताः । शास्त्रेषु सस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ॥……आसारादीन्पभ्रंशो नाटकादि तु मिश्र-क्रमम् ॥” इति ( आसारादीनि—आसारादिभिः छन्दोभिः निबद्धं काव्यमित्यर्थः ) ॥ ३ ॥

काव्यस्य पद्यंगद्यमयत्वेन भेदावाह, छन्द इति ।—तत्—प्रसिद्धं, वाङ्मयं—काव्यम् इति भावः, छन्दोनिबद्धं—छन्दः-शास्त्रोक्तलक्षणानुगत, तथा, अच्छन्दः,—छन्दःशास्त्रलक्षणा-

निर्दोषकाव्यप्रशंसा,—

अदुष्टमेव तत् कीर्त्ये स्वर्गसोपानपङ्क्तये ।

परिहार्यान्तो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे ॥ ५ ॥

अथ पदगतदोषानाह,—

अनर्थकं श्रुतिकटु व्याहृतार्थमलक्षणम् ।

स्वसङ्केतप्रकृतार्थमप्रसिद्धमसम्मतम् ॥

ऽनुगतम् इति द्विधा, भवति इति शेषः । उक्तमेव भेदद्वयं विशिष्य निर्दिशति, पद्यमिति ।—आद्यं—छन्दोनिबद्धं, तत्—वाङ्मयं काव्यं, पद्यम्, अन्यत्—द्वितीयं, छन्दोनिबद्धाङ्गिमिति यावत्, गद्यम् ; पुनस्तृतीयं भेदमाह, मिश्रमिति ।—तद्वयं—गद्यपद्यात्मकं काव्यं, मिश्रं—मिश्रनामकं, कथ्यते इति शेषः ; अन्ये तु तृतीयभेदं चम्पूरित्याहुः,—तथा चोक्तं,—“गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते” इति ॥ ४ ॥

निर्दोषकाव्यनिर्माणेन यश्च इति निर्दोषमेव काव्यं निर्मेय-मित्युपदिशन् तस्य दोषज्ञानमन्तरा अशक्यतया तानेवादौ वक्तुं प्रतिजानीते, अदुष्टमिति ।—अदुष्ट—दोषरहितं, तत्—काव्यं, कीर्त्ये—यशसे, तथा स्वर्गसोपानपङ्क्तये, भवति इति शेषः ; अतः निरुक्तकारणात्, परिहार्यान्—परित्याज्यान्, तान्—अलङ्कारशास्त्रप्रसिद्धान्, दोषान् एव आदौ—प्रथमतः, प्रचक्ष्महे—कथयामः ॥ ५ ॥

यद्यपि सामान्यलक्षणान्तरमेव विशेषाणा निरूपणमुचितं, तथापि दोषपदस्य स्फुटार्थत्वेन योगबलादेव सामान्यलक्षण-परिज्ञानात् तदप्रतिपाद्यैव विशेषा दर्शिताः । तथाहि काव्यं दुष्यति विक्तं भवत्यनेनेति व्युत्पत्त्या ‘दुष् वैकृत्ये’ इत्यस्य कारणघञा दोषपद सिद्धम् । प्रकाशकङ्किस्तु “मुख्यार्थहति-

ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते ।

क्वचिदिष्टा च विद्वद्भिरेषामप्यपदोषता ॥ ६ ॥

दोषः” इत्यनेनस्य भावघञन्तता दर्शिता । इह वैकृत्यञ्चाप-  
कृष्टत्व ततश्च काव्यस्यापकर्षोऽपकर्षको वा दोष इति सामान्य-  
लक्षणम् । अपकर्षश्च क्वचित् पदस्य, क्वचित् वाच्यस्य, क्वचि-  
दर्थस्य इति त्रितयवृत्तितया तेषां त्रिविधत्वं बोध्यम् ।  
ते के ? इत्याह, अनर्थकमिति ।—अनर्थकं,—निरर्थकं,  
श्रुतिकटु—श्रवणकर्कशं, व्याहृतार्थं—व्याहृतः . अर्थो यत्र  
तादृशम्, अलक्षणम्—अनुशासनविरुद्धम् इत्यर्थः, स्वसङ्केत-  
प्रकृत्यर्थं—नेयार्थमित्यर्थः, अप्रसिद्धम्, असम्मतं, तथा ग्राम्यञ्च  
यत् पद प्रजायेत, तत् पदं न प्रयुज्यते—न व्यवह्रियते, (अत्रान-  
र्थकमित्यादीनां नपुंसकत्वात् पदमेव विशेष्यं तत्रानर्थकत्वादि-  
सम्बन्धश्च क्वचित् साक्षात् क्वचित् पुरम्परया च बोध्यः ) क्वचित्  
च एषाम्—उक्तानां दोषाणाम्, अपदोषता—निर्दोषता,  
अपि विद्वद्भिः,—काव्यज्ञैः, इष्टा—अभिलषिता ।

अत्रेदं बोद्धव्यम्,—अनर्थकत्वं, श्रुतिकटुत्वं, व्याहृतार्थत्वम्,  
अलक्षणत्वं, नेयायत्वम्, अप्रसिद्धत्वम्, असम्मतत्वं, ग्राम्यत्वञ्चेति  
पदगताः अष्ट दोषाः क्वचित् प्रयोज्याः, तदन्यतरदुष्टं पदन्तु न  
प्रयोज्यम् । तथोक्तं चित्रमौमांसाकारैः,—“अनर्थक्यं दुःश्रवत्वं  
व्याहृतार्थत्वमेव च । निर्लक्षणत्व-ग्राम्यत्वे नेयार्थत्वं ततः  
पुनः ॥ अप्रसिद्धार्थतादोषः पदस्यासम्मतार्थता ॥” इति । एते  
च न सर्वे सर्वत्र दूषिताः, किन्तु दुष्टतामपहायैव क्वचित् पुनः  
गुणतामपि प्रपद्यन्ते ; अत एव प्रकाशकतोक्तं,—“वक्त्राद्यौचित्य-  
वशाद् दोषोऽपि गुणः क्वचित् क्वचिन्नोभौ” इति । अत्र को  
दोषः ? कुत्र निर्दोषः ? कुत्र गुणः ? क्व पुनः दोषगुणत्वोभय-

शून्यः ? तत्रोक्तं रसगङ्गाधरकृता,—“निरर्थकत्वं यो दोषः संश्लेषे  
गुणतां व्रजेत् । वक्त्रि क्रोधसयुक्ते नो दोषो न गुणः पुनः ॥  
न दोषः प्रमदोक्तौ च दुःश्रवत्व भवेद्गुणः । रौद्रे व्यङ्गे  
तथा वाच्ये रुद्रे मत्ते च वक्त्रि ॥ नेयार्थत्वं नित्यदोषो ग्राम्यत्वं  
तु गुणोऽधमे । वाच्ये वक्त्रि वाऽपि स्यात् नो गुणश्च विदूषके ।  
व्याहृतार्थत्वदोषः स्यात् प्राज्ञे वाच्ये च वक्त्रि । मूढे वक्त्रि  
नो दोषो मूर्च्छादौ तु गुणो भवेत् ॥ अप्रसिद्धार्थता बाले गुणो  
वक्त्रि चोद्धते । सुरतारम्भगोष्ठ्यादेर्वर्णने नो गुणोऽगुणः । अस-  
म्मतार्थता नीचे कुपिते वाऽपि वक्त्रि । गुणः स्यादथ बीभत्से  
न दोषो न गुणस्तथा । हतलक्षणता मूढे मत्ते नीचे च  
पीडिते । गुणो वक्त्रि दोषत्वाभावतामेति मायिके ॥” इति ।

यद्यपि प्राचीनैः पददोषाणामष्टविधत्वं प्रतिपादितं,  
साहित्यदर्पणकृदादिभिः नवीनैः पुनः षोडशसङ्ख्यायां ते एव  
प्रपञ्चिताः ; तथा हि,—“दुःश्रवत्रिविधाश्लोलाऽनुचितार्थाऽप्रयु-  
क्तताः । ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ अवाचकत्व  
क्लिष्टत्व विरुद्धमतिकारिता । अविमृष्टविधेयाशभावश्च पद-  
वाक्ययोः ॥ दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदाशेऽपि पदेऽपरे । निरर्थका-  
समर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥” इति । तथाऽपि उक्ताष्टविधे-  
ष्वेव नवीनोक्तषोडशविधानामन्तर्भावसम्भवात् तादृशभेदकल्पनं  
केवलं विणोर्नामसहस्रकीर्तनवत् प्रपञ्चनमात्रमित्यष्टविधत्वाङ्गी-  
कार एव ज्यायानिति मन्यामहे । तथा हि,—ग्राम्यत्वदोषेषुैव  
त्रिविधाश्लोलास्यापि परिग्रहसम्भवात् किं पल्लवितेन इति  
मन्यमानाः प्राञ्चः “यदनुचितं पदं तदेव ग्राम्यम्” इत्येवं लक्षणं  
विदधुः ; तेन—“दृष्टारिविजये राजन् । साधनं सुमहत्तव ।”  
“प्रससारं शनैर्वायुर्विनाशि तन्वि । ते तदा ॥” इत्यादौ त्रिविधा-  
श्लोलीदाहरणेष्वपि—साधन-वायु-विनाश-शब्दानां क्रमेण व्रीडनं

जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकतया तादृशपदप्रयोगः काव्ये नोचित इति  
 ग्राम्यत्वदोष एव ; तथा अप्रयुक्तताऽप्रतीतत्वदोषयोरपि अस-  
 म्मतत्वदोषेणैव परिग्रहसम्भवः ; तथाहि, नवीनानामप्रयुक्ततोदा-  
 हरणे—“भाति पद्मः सरोवरे” इत्यत्र पद्मशब्दस्य उभयलिङ्गत्वे-  
 ऽपि पुंसि कवीनां व्यवहाराभावात् तस्मिन् प्रयुक्तत्वादप्रयुक्त-  
 त्वम् । अप्रतीतत्वोदाहरणे “योगिन दलिताशयः” इत्यत्र च  
 योगशास्त्रे एव वासनार्थं प्रसिद्धस्य आशयशब्दस्य काव्यादौ  
 प्रयोगात् अप्रतीतत्वम् । इह प्राचा मते तु उभयत्रापि शक्त्वा-  
 र्थस्य सार्वत्रिकव्यवहाराभावात् तत्पदप्रयोगेण असम्मतत्व-  
 दोष एव , तथा क्लिष्टत्वोदाहरणे,—“क्षीरोदजावसतिजम्ब-  
 भुवः प्रसन्नाः” इत्यादौ अर्थावबोधस्य व्यवधानोपस्थायित्वात्  
 क्लिष्टत्वम् इति नव्याः, प्राचां मते तु एतादृशस्य शक्यार्थ-  
 स्यापि सर्वेषामसम्मतत्वेन असम्मतत्वं दोषः । एवं निहतार्थ-  
 तोदाहरणे “यमुनाशस्वरमम्बरं व्यतानीत्” इत्यत्र दैत्ये  
 प्रसिद्धस्य शस्वरशब्दस्य अप्रसिद्धजलरूपार्थे प्रयोगात् निहता-  
 र्थता । असमर्थतोदाहरणे च,—“कुञ्ज हन्ति कशोदरी”  
 इत्यत्र गमनार्थं अप्रसिद्धस्य हन्धातोः तत्रार्थं प्रयोगाद-  
 समर्थत्वमिति नवीनाना मतम् । इह तूभयत्रापि प्रसिद्ध-  
 भावनिबन्धनस्य अप्रसिद्धत्वदोषलक्षणस्य प्रवेशात् अप्रसिद्धत्व-  
 दोष एव ; तथा अवाचकत्वोदाहरणे,—“दिनं मे त्वयि सम्प्राप्ते  
 ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनी” इत्यत्र सूर्यकिरणावच्छिन्नयाम-  
 चतुष्टये सङ्केतितस्य दिनशब्दस्य लक्षणया प्रकाशमयार्थं प्रयुक्त-  
 त्वादवाचकत्वम् । नेयार्थत्वांदाहरणे च,—“कमले चरणाघातं  
 मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत्” इत्यत्र चरणाघातपदस्य पादप्रहारे  
 सङ्केतितत्वात् लक्षणया निर्जितार्थप्रतीतिः नेयार्थता इति नव्य-  
 मतम् ; इह उभयत्र लक्ष्यार्थप्रकाशकत्वसाभ्यात् स्वसङ्केतप्रकृता-

सीदाहरणमनर्थकमाह,—

प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत् तदनर्थकमुच्यते ।

यथा विनायकं वन्दे लम्बोदरमहं हि तु ॥ ७ ॥

र्थतादोषः । एवं विरुद्धमतिकारितादोषोदाहरणे,—“भूतयेऽस्तु भवानीशः” इत्यत्र भवस्य पत्नी भवानौ, तस्याः ईशः भवानीशः, इति भवान्याः पत्यन्तरप्रतीतिः विरुद्धमतिकारिता । अनुचितार्थत्वोदाहरणे च—“शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे” इत्यत्र पशुपदेन शूरत्वप्रतिकूलकातरत्वावगमादनुचितार्थत्वम् । तथा “आशी परम्परां वन्द्याम्” इत्यत्र सन्दिग्धतोदाहरणे—“वन्द्याम्” इति किं “वन्दीभूतायाम्” उत “वन्दनीयाम् ?” इति सन्देहावगमात् सन्दिग्धत्वमिति नवीनमतम् । इह च क्रमेण पत्यन्तर-कातरत्व-वन्दीरूपाणामभिप्रेतार्थप्रतिबन्धका-परार्थानां प्रतीतिः व्याहृतार्थत्वदोष एव ; तथा अलक्षणत्वेन च्युतसंस्कारतायाः । एवं—“अनुवर्धमनुक्त्वा न विधेयमुदीरयेत्” इत्यादिशब्दशास्त्रलक्षणहीनत्वेन विधेयाविमर्षस्य च परिग्रहः । श्रुतिकटु-दुःश्रवत्वयोः अनर्थक-निरर्थकत्वयोश्च नाममात्रप्रभेदात् भेदो न दशितः ; तस्मात् नामैकेन फलसिद्धावापि किमवान्तर-भेदकल्पनपुरःसरं बहुनामकीर्तनेनेति बोध्यम् ॥ ६ ॥

क्रमादेतान् सीदाहरणान् अनर्थकादिपददोषान् लक्षयितुं प्रवृत्तस्तत्र तावत् अनर्थकाख्यं पददोष श्लोकार्द्धेन लक्षयति, प्रस्तुते इति ।—प्रस्तुते—प्रकृते, यत्—पदम्, अनुपयुक्तम्—उपयोगरहित, तत् अनर्थकम् उच्यते, काव्ये तादृशपदप्रयोगश्चेत् तदोऽनर्थकदोष इति भावः । तमेव दोषमपारर्द्धेन उदाहरति, यथेति ।—यथेति उदाहरणप्रदर्शनार्थकम् ; एवं सर्वत्र वक्ष्यमाणदोषोदाहरणेषु उक्तस्य यथाशब्दस्यार्थो बोध्यः ।

सीदाहरणं श्रुतिकटु प्राह,—

निष्ठुराक्षरमत्यन्तं बुधैः श्रुतिकटु स्मृतम् ।

एकाग्रमनसा मन्ये स्रष्ट्रेयं निर्मिता यथा ॥ ८ ॥

अहं लम्बोदरं विनायकं—गणपतिं, वन्दे—प्रणमामि ।  
अत्र “लम्बोदरम्” इति, “हि तु” इति पदद्वयञ्च निर-  
र्थकम् । अत्रानर्थकपदञ्च प्रकृतानुपयुक्तार्थकपदपरं पाद-  
पूरणमात्रप्रयोजनकच्चादिपदपरञ्च बोध्यम् । तत्राद्ये लम्बोदर-  
पदरूपोदाहरणे तादृशार्थचिन्तनेन शाब्दबोधविलम्बनम् ;  
द्वितीये “हि तु” पदोदाहरणे च निरर्थकपदवहाक्यप्रयोक्तृत्व-  
ज्ञानेन तदीयवाक्याद्देवविषयकभावे प्रकर्षविधातो दूषकता-  
बोजम् । अतश्च मतान्तरोक्तः निरर्थकत्वदोषः वाक्यगताधिक-  
पदतादोषश्च अनेनैव गृहीतः इति भावः ॥ ७ ॥

श्रुतिकटु लक्षयति, निष्ठुरेति ।—अत्यन्तं निष्ठुराक्षरं—  
निष्ठुराणि—क्लिष्टोच्चारितानि, अक्षराणि—वर्णाः, यत्र तत्,  
कर्कशवर्णवत् पदमित्यर्थः, बुधैः,—पण्डितैः, श्रुतिकटु—श्रवणे-  
न्द्रियककेशत्वात् श्रुतिकटुनामकं दुष्टमित्यर्थः, स्मृतं—कथितम् ।  
एतेन श्रोतृणां श्रोत्रावच्छेदेन दुःखजनकत्व श्रुतिकटुत्व दोषः  
इति समाधानम् । तत्र च कर्कशैकवर्णजन्यकटादेरदोषतैव  
श्रुतिदुःखदायित्वस्य बीजस्य एकवर्णेऽननुभवात् ; तथा माधुर्य-  
बुभुक्षासत्त्वे एव च श्रुतेर्दुःखावहत्वात्, तद्विरहितेषु वीररीद्र-  
बीभत्सरसेषु न श्रुतिकटुत्वं दोषः, किन्तु शृङ्गारादावेव इत्यपि  
बोध्यम् । उदाहरति, एकाग्रेति ।—यथा स्रष्ट्रा—विधात्रा,  
एकाग्रमनसा—अभिनिविष्टेन चित्तेन, इयं, नारी इति शेषः,  
निर्मिता—स्रष्ट्रा, इति मन्ये । अत्र सकाररेफषकारटकारादी-  
नामैकयोगान्निष्ठुराक्षरत्वम्, अतः “स्रष्ट्रा” इति पदं श्रुतिकटु ;



सोदाहरण व्याहृतार्थमाह,—

व्याहृतार्थं यदिष्टार्थबाधकार्यान्तराश्रयम् ।

रतस्त्वमेव भूपाल ! भूतलोपकृतौ यथा ॥ ६ ॥

स्वाश्रयपदसम्बन्धित्वेन प्रत्यासन्नस्य शृङ्गाररसस्य साधुर्यप्रतीति-  
प्रतिबन्धकता एव दूषकताबीजम् । ततश्च मतान्तरोक्तदुःश्रवत्वे-  
नास्याभेदः बोध्यः । तथा दोषाणामेतेषां पदगतत्वं वाक्यगत-  
त्वञ्च “पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि” इति  
वक्ष्यमाणलक्षणेन प्रतिपादितम् ; ततश्च नवीनैरुक्तानां प्रति-  
कूलवर्णना-सन्धिकष्टता-लुप्ताहतविसर्गतास्यानां वाक्यदोषाणां  
वाक्यगतश्रुतिकटुत्वेन परिग्रहः, तथाविधे बहुशः प्रयोगे सति  
स्वाश्रयवाक्यसम्बन्धित्वेन श्रोत्रवैरस्यापादकतया प्रत्यासन्नरस-  
प्रकर्षप्रतीतिप्रतिबन्धकत्वादवगन्तव्यः । वाक्यगतश्रुतिकटुत्वस्य  
उदाहरणान्तरं यथा,—“स्मरार्थ्यन्धः कदा लप्से कात्तीर्थ्यं  
विरहे तव” इति ॥ ८ ॥

पूर्वाङ्गेन व्याहृतार्थं लक्षयति, व्याहृतार्थमिति ।—यत्,  
पदमिति शेषः, इष्टस्य—अभिप्रेतस्य, विवक्षितस्येति यावत्,  
अर्थस्य—प्रतिपाद्यस्य, बाधकम्—अप्रत्यायकं, अर्थान्तरम्—  
अपरमर्थम्, आश्रयति—अवलम्बते इति तथाभूतं, स्वाभिप्रेत-  
विरुद्धार्थप्रतीतिक्रमदिति यावत्, तत् व्याहृतार्थं—तदाख्य दुष्ट-  
मित्यर्थः, ( एवं रीत्या सर्वत्र दोषाभिधायकपदेन पदमित्य-  
स्यान्वयः ) कथ्यते इति शेषः । उदाहरति, रत इति ।—यथा हे  
भूपाल !—राजन् !, न तु अन्यः किन्तु त्वम् एव, (इत्येवकारार्थः)  
भूतलोपकृतौ—भूतलस्य—जगतः, उपकृतिः—उपकारः तस्या,  
रतः,—आमक्तः, असि इति शेषः । अत्र “भूतलोपकृतौ” इत्य-  
नेन भूतानां—प्राणिना, लोपः,—नाशः, तस्य कृतिः,—करणं,  
तत्र, इति विरुद्धं प्रतीयते इति व्याहृतार्थम् ; विरुद्धत्वञ्चात्र प्रति-

- सीदाहरणमलक्षणमाह, —

शब्दशास्त्रविरुद्धं यत् तदलक्षणमुच्यते ।

मानिनोमानदलनो यथेन्दुर्विजयत्यसौ ॥ १० ॥

प्राद्यर्थोपस्थितिप्रतिबन्धकत्वम्, अत्र प्रतिपदस्यातथात्वेऽपि पद-  
द्वयसमभिव्याहारवशात् तथात्वप्रतीतिः बोध्या । एवञ्च तस्मिन्  
नवीनोक्ताना सन्दिग्धत्वानुचितार्थत्व-विरुद्धमतिकारित्वामत-  
परार्थत्व-परिपत्तिरसाङ्गपरिग्रहत्वदोषाणामन्तर्भावो बोध्यः ।  
तत्र च प्रथमोक्तानां त्रयाणां पदमात्रगतत्वं तदनन्तरोक्तस्य च  
वाक्यगतत्वं शेषोक्तस्य च रसगतत्वमिति च बोध्यम् ॥ ९ ॥

अलक्षणं लक्षयति, शब्देति ।—यत्—पदं, शब्दशास्त्रस्य—  
व्याकरणादेः, विरुद्धं—नियमाननुकूलं, तत्—पदम्, अलक्षणम्  
उच्यते । व्याकरणलक्षणहीनं पदम् अलक्षणाख्यं दुष्टं कथ्यते इति  
पर्यवसितार्थः । तादृशपदानामसाधुत्वज्ञानेन शब्दबोधविघ-  
टनमेव दूषकताबीजम् । उदाहरति, मानिनीति ।—यथा असौ  
इन्दुः,—चन्द्रः, मानिनीनां—मानवतीनां, नायिकानामिति  
शेष, मानस्य—प्रियं प्रति प्रणयकोपस्य, दलनः,—विध्वंसकः  
सन्, विजयति—जययुक्तो भवतीत्यर्थः, मानिनीमोक्षशुद्धना-  
दिति भावः । अत्र “विजयति” इति [ विपूर्वात् जयतेः  
“विपराभ्यां जे” ( १।३।१६ पा० ) इति सूत्रेण ] आत्मने-  
पदस्यानुशिष्टत्वात् परस्मैपदप्रयोगः तन्नियमविरुद्धं, इति अल-  
क्षणम् । ततश्चैतस्मिन्नेव च्युतसंस्कारत्वस्य पदवाक्यगताविमृष्ट-  
विधेयाशत्वस्य च नव्योक्तदोषस्यान्तर्भावः करणीयः । अविमृष्ट-  
विधेयाशभवे शब्दशास्त्रविरुद्धत्वञ्च “अनुवाच्यमनुक्तैव न विधेय-  
मुदीरयेत्” इत्यभियुक्तोक्त्या उद्देश्यविधेयतांशालिबोधे विधेय-  
वाचकप्राग्वर्त्युद्देश्यवाचकपदजन्योपस्थितिः—कारणमित्युद्देश्य-  
विधेययोः पूर्वोपर्यभावात् नियमितत्वात् तद्वद्वनमेव । पदा-

सीदाहरणं स्वसङ्केतप्रकृतार्थमाह,—

स्वसङ्केतप्रकृतार्थं नेयार्थान्तरवाचकम् ।

यथा विभाति शैलोऽयं पुष्पितैर्वानरध्वजैः ॥ ११ ॥

र्थानां मध्ये विधेयांशस्योपादेयत्वेन प्राधान्यात् तस्य प्राधान्येन निर्देश एवोचित इति भावः । तद्विपर्ययश्च क्वचित् समासेन क्वचित् उद्देश्यविधेयपदयोः पौर्वापर्यविपर्ययेण, तत्राद्ये पद-  
दोषत्वं, द्वितीये वाक्यदोषत्वमिति विभाव्यम् ॥ १० ॥

पूर्वार्धेन स्वसङ्केतप्रकृतार्थं लक्षयति, स्वसङ्केतेति ।—प्रकरणवशादत्र “यत् पदम्” इति पूर्वतः समाकृत्य अध्याहृतेन “तत्” इत्यनेन च सम्बन्धः कल्पनीयः । ततश्च—यत्—पद-  
नेयार्थान्तरवाचकमित्यर्थो लभ्यते ; नेयस्य—लक्ष्यस्य, न तु अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यस्य इति भावः, अर्थान्तरस्य—अपरार्थस्य, वाचकम्—अभिधायकं, तत्—पदं, स्वसङ्केतप्रकृतार्थं—तदार्यं दुष्टं, कथ्यते इति शेषः ; अयं भावः,—“निरूढा लक्षणाः काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत् । क्रियन्ते साम्प्रतं काश्चित् काश्चि-  
न्नेव त्वशक्तितः ॥” इति प्राचीनैरुक्तम् । अस्यार्थः,—काश्चित् लक्षणाः निरूढाः,—प्रसिद्धाः, ताश्च बोधकतारूपात् सामर्थ्यात्, अभिधानवत्—अभिधातुल्या, काश्चिच्च साम्प्रतं क्रियन्ते, सम्बन्धप्रयोजनीपस्थितिवशात् इति शेषः ; काश्चित्तु सम्बन्ध-  
प्रयोजनरूप्यभावेऽपि वक्ता स्वाशक्तितो नैव क्रियन्ते इत्यर्थः । एवञ्च,—उक्तलक्षणाहेतुभूतमुख्यार्थबाधस्य रूढिप्रयोजनैक-  
तरस्य मुख्यार्थसम्बन्धस्य च उपस्थितौ एव लक्षणा स्वीकर्त्तव्या, अथ तेषाम् एकस्याप्यभावे या लक्षणा, तद्विशिष्टं पदं स्वसङ्केतप्रकृतार्थम् ।—स्वस्य—आत्मनः, सङ्केतेन—अभि-  
प्रायेण, प्रकृतः,—रचितः, कल्पित इति यावत्, अर्थः,—प्रति-  
पाद्यवस्तु, यत्र तत् इति व्युत्पत्तिलभ्यार्थेनैव एतदर्थलाभ

इति सुधौभिर्विभाव्यम् । अत एव दर्पणे,—“नेयार्थत्वं—  
रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्” इत्युक्तम् ।  
उदाहरति, यथेति ।—यथा अयं शैलः,—पर्वतः, पुष्पितैः,—  
सञ्जातकुसुमैः, वानरध्वजैः,—अर्जुनवृक्षैः, विभाति—राजते ।  
अत्र वानरध्वजशब्दः पाण्डवे “अर्जुने” एव सङ्केतितः, न त्वर्जुन-  
वृक्षे ; पाण्डवस्य पुष्पितत्वासम्भवात् मुख्यार्थस्य पुष्पितैरित्यनेन  
अन्वयानुपपत्तिः । ततश्च वानरध्वजपदेन लक्षणाया अर्जुन-  
वृक्षोपस्थितिः, सा च लक्षणा रूढिप्रयाजनशून्या इति कवेर-  
शक्तिकृता स्वसङ्केतमात्रमूलैव इति दोषः । अत्र प्रथमतः रूढि-  
प्रयोजनव्यतिरेकनिश्चयेन कवेरशक्तिनिश्चयः, ततो लक्ष्यार्थोप-  
स्थितिः, ततः शाब्दबोधः, इति तद्विलम्बेनैव रसबोधविलम्बनं  
दूषकताबीजम् । तथाचैतस्मिन्नेव नवानाना नेयार्थत्वावाचक-  
त्वयोरनुप्रवेशो बोध्यः । इह अवाचकत्वानुप्रवेशबीजन्तु लक्ष-  
णाङ्गोकरणमेव, तथाहि “गीतेषु कर्णमादत्ते” “दिनं मे त्वयि  
सम्प्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनौ” इत्यादौ अवाचकत्वोदाहरणे  
मुख्यार्थबाधाक्षणां विना गत्यन्तराभावात् लक्षणैवाङ्गोक्तता,  
“दिनम्” इत्यादौ दिनपदस्य सूर्यकिरणावच्छिन्नयामचतुष्टये  
अभिधा, प्रकाशमयार्थे तु लक्षणा । केचिदत्र प्रकाशार्थे दिन-  
पदस्यान्वयापि प्रयोगदर्शनाद्भ्रूढिमूला प्रकाशातिशयप्रतीति-  
प्रयोजनमूला वा लक्षणेयमिति मन्यमानाः नेयार्थात् अस्य  
भेदमङ्गीकुर्वन्ति, तत्र प्रमाणाभावात् प्राञ्चः तन्नेच्छन्तीति  
स्वसङ्केतप्रकृत्यर्थत्वमेव । अस्य वाक्यगतोदाहरणं यथा,—  
“नमन्नृपतिमण्डलोमुकुटचन्द्रिकादुर्दिनस्फुरच्चरणपल्लवप्रतिपदो-  
क्तदोःसम्पदा । अनेन सृजतेतरा तुरगमेधमुक्तभ्रमत्तुरङ्गखर-  
चन्द्रकप्रकरदन्तुरा मेदिनी ॥” अत्र हि चन्द्रिकादुर्दिनशब्दयोः  
यथाक्रमं किरणच्छन्नयोर्वाचकत्वाद्दोषत्वम् ॥ ११ ॥

सीदाहरणमप्रसिद्धमाह,—

यस्य नास्ति प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुर्यथा ।

राजेन्द्र ! भवतः कीर्तिश्चतुरो हन्ति वारिधीन् ॥ १२ ॥

अप्रसिद्धं लक्षयति, यस्येति।—यस्य—पदस्य, यस्मिन्नर्थे इति शेषः प्रसिद्धिः,—व्यवहारः, प्रयोग इत्यर्थः, नास्ति, यत्रार्थे पठ्यते तत्र शक्तस्यापि यस्य तदर्थे शिष्टप्रयोगो न दृश्यते इति यावत्, तत् अप्रसिद्धं विदुः । उदाहरति, यथेति।—यथा, हे राजेन्द्र ।—नराधिपपते । भवतः कीर्तिः,—यशः, चतुरः वारिधीन्—समुद्रान्, हन्ति—गच्छति । अत्र “हन्ति” इति हन् धातुः “हन् हिंसागत्योः” इति उभयार्थे पठितोऽपि बधार्थ एव प्रसिद्धः, न तु गमनार्थे, इति तत्र प्रयोगात् अप्रसिद्धत्वम् । काव्यप्रकाशकारादयस्तु दोषमिममसमर्थान्वयमाहुः । हन्धातोर्गमनार्थेऽप्रसिद्धत्वे यदुक्तं काव्यालङ्कारकारैः उद्घटपादैः,—“शास्त्रकारैः समान्नातमपि ख्यातिहत तु यत् । तन्न जातु प्रयुञ्जीत हन्तीति गमने यथा ॥ पोषणे च दधातीति विधाने विकरोति च । खतलच्च यथाऽऽकाशे यथोक्तौ बुक्कतीति च ॥” इति । ततश्चैतस्मिन्नेव नवीनोक्तयोरसमर्थत्वनिहतार्थत्वदोषयोरन्तर्भावः करणीयः । तथाच पदार्थोपस्थितिदशायामविवक्षितस्य ‘प्रसिद्धार्थस्योपस्थित्या विवक्षिताप्रसिद्धार्थोपस्थितिविलम्बनेन रसविलम्बनमत्र दूषकताबीजमवधेयमिति दिक् । अस्य वाक्यगतत्वमपि सम्भवति ; तत्रोदाहरणयथा, — “सायकसहायवाहोमकरध्वजनियमितक्षमाऽधिपतेः अजरुचिभासुरस्ते भातितरामवनिप ! श्लोकः ॥” इति । अत्र सायक-मकरध्वज-क्षमाऽजश्लोकशब्दाः शर-मदन-सहिष्णुता-कमल-पद्यानामेव वाचकाः प्रसिद्धाः करवाल-सागर-धरणी-चन्द्र-यशसा वाचकतया प्रयुक्ता इति अप्रसिद्धत्वदोषः ॥ १२ ॥

सोदाहरणसम्मतमाह,—

शक्तमप्यर्थमाख्यातुं यन्न सर्वत्र सम्मतम् ।

असम्मतं तमोऽम्भोजं चालयन्त्यंशवो रवेः ॥ १३ ॥

सोदाहरणयाम्यमाह,—

यद् यवानुचितं तद्धि तत्र ग्राम्यं स्मृतं यथा ।

हादयित्वा सुरान्पुष्यैःपुरो धान्यं क्षिपाम्यहम् ॥ १४ ॥

असम्मतं लक्षयति, शक्तमिति।—यत्—पदम्, अर्थम्—अर्थ-  
विशेषम्, आख्यातुम्—अभिधातुं, शक्तं—समर्थम्, अपि सर्वत्र  
—सर्वस्मिन् शास्त्रे, न सम्मतं—न अभिमतं, काव्यान्तरेषु यस्य  
अर्थविशेषबोधकता नेष्टा इत्याशयः, तत् असम्मतं, कथ्यते इति  
शेषः । तथा च,—कव्यनाटतत्वज्ञानाच्च तदास्वादप्रकर्षविघातो-  
ऽत्र दूषकताबीजम् । नन्वप्रसिद्धदोषस्यापि सर्वत्राप्रसिद्धार्थत्वम्,  
अस्यापि तथात्वे कथं लक्षणद्वयमिति नाशङ्कनीयम्; यस्य पदस्य  
सर्वथा प्रयोगाभावो दृश्यते, तदप्रसिद्धं, यस्य च विरलप्रयोगः  
तदसम्मतम् इत्यनयोर्भेदः । उदाहरति, तम इति ।—यथा  
रवेः,—सूर्यस्य, अंशवः,—किरणाः, तमोऽम्भोजं—तिमिरपङ्कं,  
चालयन्ति—नाशयन्ति इत्यर्थः । अत्र अश्वसः जायते इति  
व्युत्पत्तेः कर्दमकमलार्थयोः प्रतीती अपि अम्भोजशब्दः कमले  
एव योगरूढः, न तु कर्दमे कस्यापि सम्मतिः इति असम्मतम् ।  
उक्तञ्च काव्यालङ्कारे,—“न रूढेर्योगशक्तिः स्यादस्या रूढिस्तु  
हारिणी । योगशक्तिं समाश्रित्य प्रयुञ्जानः प्रतत्यधः ॥ तस्मा-  
द्दूर्ढिर्बलवती श्लेषादौ तु क्वचिद्बुधाः । अपि योगमाद्रियन्ते  
तथाऽपि रूढिरुत्तमा ॥” इति । एतस्मिन्नेव च नवीनोक्ताः  
अप्रयुक्तत्वाऽप्रतीतत्व-क्लिष्टत्वदोषा अनुप्रवेशनीयाः ॥ १३ ॥

ग्राम्य लक्षयति, यदिति ।—यत्र—यस्मिन् देशे यस्यां

अथ वाक्यमात्रदोषकथनीपक्रम,—

पदात्मकत्वात् वाक्यस्य तद्दोषाः सन्ति तत्र हि ।  
अपदस्थास्तु ये वाक्यदोषास्तान् ब्रूमहेऽधुना ॥१५॥

भाषायां वा, यत्—पदम्, अनुचितं—वक्तुमयुक्तं, तत्र—तस्मिन्  
देशे तस्यां भाषायां वा, तद्धि—तदेव पदमित्यर्थः, ग्राम्यं—ग्राम्य-  
दोषदुष्टं, स्मृतं—कथितम्; हालिकसाधारणप्रसिद्धार्थकपदं  
ग्राम्यमित्यभिप्रायः । उदाहरति, यथेति ।—यथा अहं पुष्पैः  
सुरान्—देवान्, छादयित्वा—आच्छाद्य, सम्पूज्य इत्यर्थः, पुरः,  
—अग्रतः, धान्यं क्षिपामि—निर्वपामि । अत्र “छादयित्वा”  
“धान्यं” “क्षिपामि” इति पदत्रयं हालिकपुरुषप्रयुक्तपदवत्-  
सुधीजनप्रयोगायोग्यमिति ग्राम्यम् । एवञ्च ग्राम्यवक्तृकत्वज्ञाना-  
दत्र रसप्रकर्षबोधविघातो दूषकताबोजम् । इदं नौचानां वक्तृत्वे  
तु युज्यत एव, अत एव काव्यालङ्कारक्ततोक्तम्,—“अधमानान्तु-  
वक्तृत्वे गुणो ग्राम्यत्वमीप्सितः” इति । अनेनैव नवीनोक्तानां  
त्रिविधानामपि अश्लीलत्वदोषाणां सङ्ग्रहः करणीयः, तेषामपि  
भाषागतानौचित्यप्रतीतेः । एतेषां वाक्यगतत्वमपि यथायथं  
सम्भवत्येव ; तत्र वाक्यगतनवीनोक्तसन्ध्यश्लीलत्व यथा,—  
“वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः । अयमुड्डीयते पक्षी  
ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥” इति, इह तु वाक्यगतग्राम्यत्वमेव इति  
सुधीभिश्चिन्तनीयम् ॥ १४ ॥

एवं पदमात्रगतान् दोषान् अभिधाय वाक्यमात्रगतान् अपि  
तान् अभिधातुं प्रतिजानीते, पदात्मकत्वादिति ।—वाक्यस्य—  
पदसमूहस्य, पदात्मकत्वात्—पदसमुदायविशेषस्वरूपत्वात्,  
तद्दोषाः,—पददोषाः, तत्र हि—तत्र एव, वाक्ये एव इत्यर्थः,  
सन्ति—भवन्ति । वाक्यस्य पदसमुदायरूपत्वेन एकपदगतो

वाक्यदोषानाह,—

खण्डितं व्यस्तसम्बन्धमसम्मितमपक्रमम् ।

छन्दोरीतियतिभ्रष्टं दुष्टं वाक्यमसत्क्रियम् ॥ १६ ॥

दोषः पद दूषयन् वाक्यमपि दूषयति इति पददोषवाक्यदोषयो-  
रभेद एव इति भावः । पूर्वोक्ता दोषास्तु पददोषसजातौया  
वाक्यदोषाः, तद्विजातौयाः अपि केचित् वाक्यदोषाः प्रदर्श्यन्ते ;  
अतः आह,—अपदस्था इत्यादि । अधुना—सम्प्रति, ये तु अप-  
दस्थाः,—पदाश्रयेण न स्थिताः, वाक्यदोषाः,—वाक्यमात्रगता  
दोषाः, तान् ब्रूमहे—कथयामः । [अनेन “पदाश्रिताः” “वाक्य-  
मात्राश्रिताः” इति भेदेन वाक्यदोषाणां द्वैविध्यं सूचितम् ]  
“पदात्मकत्वाद्वाक्यस्य” इत्यनेन नवौनेर्यदुक्तं,—‘दुःश्रवत्वमारभ्य  
अविमृष्टविधेयांशत्वान्तास्त्रयोदश दोषाः पदे वाक्ये च सम्भवन्ति’  
इति, तदपि प्राचीनानामेव प्रतिविम्बनमिति सूचितम् ; तथा  
हि,—पूर्वोक्ता दोषाः पदगताः वाक्यगताश्च ; येषां पदार्थान्वय-  
निरपेक्षणेन दुष्टत्वमङ्गीकृतं, ते पददोषाः, शाब्दबोधसामग्री-  
रहितत्वादन्यबोधजनकत्वेन तद्वटितपदसमूहस्यावाक्यत्वात् ;  
यत्र च दोषघटितपदसमूहस्य वक्तृतात्पर्यग्रहेण पदार्थोप-  
स्थित्या शाब्दबोधोत्पत्तिः सम्भाव्यते, तत्र तेषां वाक्यत्वादेव  
तत्तद्दोषा वाक्यदोषतया अङ्गीकृताः ; अन्यव्यतिरेकाभ्यां  
यथा गुणालङ्कारादीनां शब्दार्थगतैव व्यवस्थापितं, तथा दोषा-  
णामपि इत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

के ते ? इत्याह, खण्डितमिति ।—१ खण्डितम् । २ व्यस्त-  
सम्बन्धम् । ३ असम्मितम् । ४ अपक्रमम् । छन्दोरीतियतिभ्रष्टं  
—५ छन्दोभ्रष्टम् । ६ रीतिभ्रष्टम् । ७ यतिभ्रष्टञ्च इति त्रिविधं,  
तथा ८ असत्क्रियं वाक्यं दुष्टं भवति ; तथाऽऽहुः काव्यालङ्कार-



काराः,—“कन्दोभ्रष्टं यतिभ्रष्टं रीतिभ्रष्टञ्च खण्डितम् । यञ्च  
विच्छिन्नसम्बन्धमक्रमं हतसम्पत्ति ॥ इत्येवं सप्तधा वाक्यं  
दुष्टं प्राज्ञैः प्रकोर्त्तितम् । अधिकत्वादिदोषास्तु नैतेभ्यः पृथगा-  
स्थिताः ॥” इति । एतेन दर्पणोक्ताः त्रयोविंशतिसङ्ख्यकवाक्य-  
दोषाः अपि एतेभ्यो न पृथगिति सूचितम् । तथा हि वाक्य-  
मात्रदोषाः यथा,—“वर्णानां प्रतिकूलत्वं लुप्ताहतविसर्गते ।  
अधिकन्यूनकथितपदता-हतवृत्तताः ॥ पतत्यकर्षता सन्धौ  
विश्लेषाश्लीलकष्टताः । अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥  
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमासतपरार्थताः । वाच्यस्थानभिधानञ्च  
भग्नप्रक्रमता तथा ॥ त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमा-  
सयोः । सङ्कीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥” इति ।  
एकेन खण्डितत्वदोषेणैव नवीनोक्तानां सङ्कीर्णता-गर्भितता-  
समाप्तपुनरात्तताख्यदोषाणां परिग्रहसम्भवात् किं पल्लवितेन  
इत्यभिप्रायः । तथा हि नवीनोक्तसङ्कीर्णत्वदोषादाहरणे,—“मुञ्च  
चन्द्रं कुरङ्गाच्चि ! पश्य मानं नभोऽङ्गने” इत्यत्र मानं मुञ्च चन्द्रं  
पश्य इत्यन्वयः, ततश्च वाक्यान्तरपदाना वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशात्  
सङ्कीर्णत्वम् । “रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना । वदामि  
सखि । ते तत्त्व कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥” इत्यादौ गर्भिततो-  
दाहरणे च प्रथमद्वितीयचतुर्थचरणस्थितैकवाक्यरूपे तृतीय  
चरणरूपवाक्यप्रवेशात् वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशरूपगर्भि-  
तत्वं दोषः । तथा “नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः ।  
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्षमातलम् ॥” इति समाप्त-  
पुनरात्ततोदाहरणे च तृतीयपादवाक्येन अन्वयसमाप्तावपि  
पुनश्चतुर्थपादवाक्योपादानात् समाप्तपुनरात्तत्वं, प्राचां मते तु,—  
सर्वत्र वाक्याना वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नतया खण्डितत्व-  
मेव । एव नवीनोक्तानामर्धान्तरैकपदताऽस्थानपदताऽक्रम-

ताख्यदोषाणामेकेन व्यस्तसम्बन्धत्वदोषेणैव सङ्ग्रहः । “इन्दु-  
विभाति कर्पूरगौरैर्धवल्यन् करैः । जगन्मा कुरु तन्वङ्गि !  
मान पादानते प्रिये ॥” इत्यर्दान्तरैकपदतोदाहरणे प्रथमार्धे  
पठितुमुचितस्थापि “जगत्” इति पदस्य द्वितीयार्धे निवेशा-  
दर्दान्तरैकपदतादोषः ; तथा “हितान् न यः संशृणुते स  
किम्प्रभुः” इत्यत्र “संशृणुते” इत्यतः पूर्वं नञः स्थिते रौचित्ये-  
ऽपि ‘यः’ इति पदस्य पूर्वं तस्य निवेशनादस्थानपदता-  
दोषः, तथा “द्वयं गत सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया  
कलापिनः । कला च सा कान्तिमती कलावतः त्वमस्य  
लोकस्य च नेत्रकौमुदौ ॥” इत्यत्र ‘त्वम्’ इत्यनन्तर प्रयोक्तुमुचि-  
तस्य ‘च’ इति पदस्य ‘लोकस्य’ इत्यनन्तर प्रयुक्तत्वादक्रमता-  
दोषः । प्राचा मते पुनः,—“क्रमिकाणां क्रमिकैरेवान्वयः” इति  
नियमात् सम्बन्धवतां पदानामसान्निध्यात् व्यस्तसम्बन्धत्व दोष  
एव, एवं नवीनोक्तयोरधिकपदता-कथितपदतादोषयोरसम्मित-  
त्वदोषेणैव सङ्ग्रहः सम्भवति । तथा हि “पल्लवाक्षतिरक्तोष्ठी”  
इत्यत्राक्षतिपदस्य पुनरुक्तत्वाभावेऽपि उक्तपदार्थानतिरिक्तार्थ-  
कत्वादधिकपदत्वम् । “रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलोलमनिलो  
वहन्” उभयत्र विलासरूपार्थस्य एकलीलापदेनैवोक्तौ तात्पर्य-  
ग्राहकाभावेन लीलापदस्य द्विरुपादानात् कथितपदत्वमिति  
नव्यमतम् । इह तु दोषद्वयेऽपि शब्दापेक्षया अर्थानां न्यूनत्वेन  
शब्दार्थयोः सन्नितत्वाभावात् असम्मितत्वदोष एव, एवं  
नवीनोक्तयोः न्यूनपदताऽनभिहितवाच्यतादोषयोः असत्क्रियत्व-  
दोषस्वीकारादेव सिद्धिः । तथा हि,—“यदि मय्यर्पिता दृष्टिः  
किं ममेन्द्रतया तदा” इत्यत्र “त्वया” इति पदस्य न्यूनत्वेन  
न्यूनपदत्वं, तथा “व्यतिक्रमलव कं मे वीक्ष्य वामाक्षि !  
क्षुप्यसि ?” इत्यत्र “लवमपि” इति वक्तुमुचितस्य अपिशब्द-

स्यानभिहितत्वात् अनभिहितवाच्यतादोषः । प्राचीनानां मते असत्क्रियलक्षणे क्रियापदपदस्य पदमात्रे तात्पर्यात् उभयत्र असत्क्रियत्वदोषः । एवमपक्रमत्वदोषेणैव नवीनोक्तयोः प्रसिद्धित्याग भग्नप्रक्रमताख्यदोषयोः सङ्ग्रहः सम्भवति ; तथा हि “घोरो वारिमुचा रवः” इत्यत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धं, न तु रवः प्रसिद्धः, इति प्रसिद्धित्यागाख्यदोषः, तथा “एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत” इत्यत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैवोचितमिति “प्रत्यवोचत” इत्यनुक्त्वा “प्रत्यभाषत” इति कथनात् भग्नप्रक्रमतादोषः । इह पूर्वत्र “मञ्जीरादिषु रणितप्रायं पक्षिषु च कूजितप्रभृति” इत्यादि शास्त्रक्रमलङ्घनात् परत्र रचनाक्रमलङ्घनाच्च अपक्रमत्वाख्यदोष एव ; एव “गता निशा इमा बाले ।” इत्यत्र विसर्गलोपाङ्गुप्तविसर्गत्वम् ; “घोरो वरो नरो याति” इत्यत्र ओत्वप्राप्तविसर्गतया आहतविसर्गत्वम् ; “उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्व्वस्थितिः” इत्यत्र सन्धिविश्लेषप्रतीतिः कष्टतया सन्धिकष्टत्वम् ; तथा “ओबट्ट उल्लट्ट सअणे कहिंपि मोट्टाअट्ट णो परिहट्ट । हिअएण फिट्ट लज्जाट्ट खुट्टट्ट दिहीए सा ॥” (उद्धत्तंयति उल्लोटयति शयने कस्मिन्नपि मोट्टायति न परिघट्टति । हृदयेन स्फिट्टयति लज्जया खुट्टयति धृतेः सा ॥” इति संस्कृतम् ) अत्र शृङ्गाररसप्रतिकूलटकाराणां प्रयोगात् प्रतिकूलवर्णत्वम् । “दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि । ते” “एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असक्तप्रयोग एव दोषः ; अनुशासनमुल्लङ्घय वृत्तमङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सक्तदपि” इति अधिकविसर्गस्थितौ च दुःश्रवत्वमेव इति च विश्वनाथमतम् । एतन्मते बहुशः एवंविधप्रयोगे ओट्टवैरस्यनिबन्धनलक्षणस्य श्रुतिकटुत्वस्य विद्यमानतया वाक्यगतश्रुतिकटुत्वदोषस्वीकारेणैव सिद्धेः किं

प्रतिकूलवर्णता-सन्धिकष्टता-लुप्ताहृतविसर्गताख्यबहुदोषस्वीकारेणेति भावः । एवं नवीनोक्तसम्बन्धश्लीलत्वस्य वाक्यगतग्राम्यत्वेन परिग्रहः सूचितः । तथा च “चलण्डामरचेष्टितः” इत्यत्र चलन् यथा स्यात् तथा डामरम् उद्भटं चेष्टित यस्य इत्यर्थे सम्बन्धव्यञ्जकत्वात् लण्डामरशब्दस्यापभ्रंशविधया पुरीषव्यञ्जकत्वात् लुगुप्ता प्रतीयते, अतः सम्बन्धश्लीलत्वदोषः ; प्राचां मते तु देशभाषादिगतानुचितपदप्रयोगात्मकस्य ग्राम्यत्वस्यैव सद्भावान्न प्रपञ्चितम् । एवं नवीनानां पतत्प्रकर्षताऽस्थानसमासतादोषयोः रीतिभ्रष्टत्वदोषेणैव सङ्ग्रहः । “प्रोज्वलञ्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः । श्वासच्छिमज्जलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी ॥” इत्यत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षपतनात् पतत्प्रकर्षतादोषः । तथा “अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि स्यातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः । प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणात् फुल्लक्लैरवकोषनिःसरदल्लिम्बेणौक्तपाणं शशी ॥” इत्यत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृत इति अस्थानसमासतादोषः । इह तूभयत्रापि रचनारीतेरनिर्वाहात् रीतिभ्रष्टत्वदोषः । एव नवीनोक्तस्याभवन्मतसम्बन्धत्वस्य विधेयाविमर्षदोषवद्वाक्यगतालक्षणत्वदोषेणैव परिग्रहः सम्भवति । तथा हि “या जयश्रीसंनोजस्य यया जगदलङ्कृतम् । यामिणाक्षीं विना प्राणाः विफला मे कुतोऽद्य सा ? ॥” इत्यत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षतया तदेकान्तःपातिना ‘एणाक्षी’ शब्देन कवेरभिमतोऽप्यन्येषा सम्बन्धी न घटते इत्यभवन्मतसम्बन्धत्व दोषः । प्राचा मते तु “यामिणाक्षीम्” इत्यत्रैव एणाक्षीपदस्यान्वयः सम्भवति, न तु भिन्नविभक्तिकयोः “या” “यया” इति पदयोः, निराकाङ्क्षत्वावगमात् । अतः शब्दशास्त्र-

सीदाहरण खण्डितमाह,—

वाक्यान्तरप्रवेशेन विच्छिन्नं खण्डितं मतम् ।

यथा पातु सदा स्वामी यमिन्द्रः स्तौति वो जिनः॥ १७॥

विरुद्धान्वयस्याभिनिवेशात् वाक्यगतालक्षणत्वाख्यदोष एव ।  
तथा नवीनीक्ताऽमतपरार्थतादोषस्यापि 'वाक्यगतव्याहृतार्थता-  
दोषस्वीकारेण सिद्धिः स्यादेव ; यद्वा,—न्यायविरुद्धतारूपार्थदोष-  
मध्येऽस्य ग्रहणम् । तथा हि,—“राममन्मथशरेण ताडिता  
दुःसहेन हृदये निशाचसौ । गन्धवद्गुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश-  
वमतिं जगाम सा ॥” इत्यत्र रुधिरसेकाभिव्यक्तबीभत्सरस-  
स्थानुपयुक्तस्य रामादावारोपितमन्मथादिरूपापरार्थस्य प्रतीते-  
रमतपरार्थत्वं दोषः, इह तु वाञ्छितार्थप्रतिकूलार्थप्रतीतेः  
वाक्यगतव्याहृतार्थत्वम् । पक्षान्तरे एतादृशार्थस्य न्यायविरु-  
द्धत्वात् न्यायविरुद्धताख्यार्थदोषः, इति लघुना सिद्धे गुरुकरणं  
नीचितमिति न तैः पक्षविता इति सुधीभिर्विभाव्यम् । तथा  
नवीनीक्तस्य हतहत्तस्य कन्दोभ्रष्टनाम्ना लक्षणं कृतमिति नाम-  
मात्रेणैव भेदः इति दिक् ॥ १६ ॥

क्रमेण लक्षणीदाहरणानि वक्तुमादौ खण्डितमाह, वाक्या-  
न्तरेत्यादि ।—अत्र “यत् वाक्यम्” इति अध्याहार्यम् ; वाक्या-  
न्तरे—अन्यस्मिन् वाक्ये, प्रवेशः,—अभिनिवेशः तेन, विच्छिन्नं  
—विच्छेदं गतं, तत् खण्डितं मतं—कथितम् । एकवाक्या-  
न्तरान्यवाक्यीयपदप्रवेशे, एकवाक्यान्तरान्यवाक्यस्य च प्रवेशे  
अन्वयबोधजननान्निराकाङ्क्षमपि विशेष्यं पुनर्विशेषणान्तराका-  
ङ्क्षया च उक्तचेदय दोषः इत्यभिप्रायः । विवक्षितार्थस्य विलम्बेन  
प्रतीतिरत्र दूषकतावोजम् । उदाहरति, यथेति ।—यथा इन्द्रः  
यं—जिन, बुद्धमिति यावत्, स्तौति, सः स्वामी—प्रभुः, जिनः

सीदाहरणं व्यस्तसम्बन्धमाह,—

सम्बन्धिपददूरत्वे व्यस्तसम्बन्धमुच्यते ।

यथाऽऽद्यः सम्पदं ज्ञाता देयात् तत्त्वानि वोऽर्हताम् ॥१८॥

—बुद्धः, ( “सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः । समन्त-  
भद्रो भगवान् भारजिल्लोकजिज्जिनः” इत्यमरः ) वः,—युष्मान्,  
सदा पातु—रक्षतु । अत्र “पातु सदा स्वामी जिनः वो यमिन्द्रः  
स्तीति” इति वक्तव्ये “पातु सदा स्वामी” इत्युक्त्वा “यमिन्द्रः  
स्तीति” इति वाक्यान्तरे “वो जिनः” इति वाक्यं प्रविष्टम् इति  
षण्डितम् । अत्राकाङ्क्षान्तरकल्पनेन शाब्दबोधविलम्बन, तेन  
च विवक्षितार्थस्य विलम्बेन प्रतीतिः दूषकताबीजम् । तच्च  
नवीनोक्तेशु सङ्घीर्णता-गर्भितता-समाप्तपुनरात्ततादोषेषु सम्भ-  
वति, ततस्तेऽप्यस्मिन्नेव दोषेऽन्तर्भवन्तीति भावः ॥ १७ ॥

व्यस्तसम्बन्धमाह, सम्बन्धीति,—सम्बन्धिनां—सम्बन्धवतां,  
परस्परमन्वितानामित्यर्थः, पदानां दूरत्वे—असन्निधाने सति,  
( यद् वाक्यं दुष्टं स्यात् तत् ) व्यस्तसम्बन्धम् उच्यते । तच्च  
क्वचित् यद्वचकमेकमेव पदं भिन्नवाक्यघटितपदार्थे वर्तते तत्र  
सम्भवति, क्वचिच्च स्वार्थान्वयिन्या स्ववाक्यीयक्रियया भिन्न-  
वाक्यीयपदेन वा स्वार्थान्वयव्यवधानाभावे सति अयुक्तस्थान-  
पतितेन पदान्तरोत्तरपातितानियमरहितेन पदेन विशिष्टं  
यद्वाक्यं तत्र च सम्भवति, पदान्तरोत्तरपातनियतघटितत्वे च  
सम्भवतीत्यवधेयम् । ततश्च नवीनोक्तानामर्धान्तरैकपदता-  
ऽस्थानपदताऽक्रमताख्यदोषाणाम् एकेनैव व्यस्तसम्बन्धाख्येन  
सङ्ग्रहः कृत इति भावः । “क्रमिकाणां क्रमिकैरेवान्वयः” इति  
नियमलङ्घनादन्वयबोधमान्यर्थमत्र दूषकताबीजम् । उदाहरन्ति,  
यथेति ।—यथा तत्त्वानि [ “न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थद्वनाम्”

सीदाहरणसम्मितमाह,—

शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव सम्मितौ ।

तदसम्मितमित्याहुर्वाक्यं वाक्यविदो यथा ॥

मानसौकःपतद्द्यानदेवासनविलोचनः ।

तमोरिपुविपचारिप्रियां दिशतु वी जिनः ॥१६॥

( २ । ३ । ६६ पा० ) इत्यनेन षष्ठीनिषेधे कर्मणि द्वितीया ]  
ज्ञाता—तत्त्वज्ञानशीलः, अर्हतां—जिनसम्प्रदायविशेषावलम्बि-  
नाम्, आद्यः,—श्रेष्ठः, उपास्य इति यावत्, ऋषभदेवः इत्यर्थः,  
वः,—युष्माकं, सम्पदं—सम्पत्तिं, देयात्—ददातु । अत्र “आद्यः”  
इत्यस्य “अर्हताम्” इत्यनेन सम्बन्धः दूरस्थितः, तथा “ज्ञाता  
तत्त्वानि” इत्येतयोः परस्परसम्बन्धः, किन्तु मध्ये “देयात्”  
इत्यस्य स्थितत्वात् दूरस्थितः इति व्यस्तसम्बन्धम् ॥ १८ ॥

असम्मितं लक्षयति, शब्दार्थाविति ।—यत्र—यस्मिन् वाक्ये,  
शब्दार्थौ—पदपदार्थौ, तुलया—तुलादण्डेन, विधृतौ—न्यस्तौ  
इव, तुलानिर्णीतसमपरिमाणताकवस्तुद्वयवदित्यर्थः, न  
सम्मितौ—न तुल्यौ, तत्—वाक्यं, वाक्यविदः,—पण्डिताः, अस-  
म्मितम् इति आहुः,—कथयन्ति ; यत्र शब्दापेक्षया स्वल्पः अर्थः,  
अर्थापेक्षया च शब्दोऽल्पः, तत्र असम्मितदोषः इति भावः,  
शब्दार्थावित्यनेन नवीनैरुक्तयोः कथितपदत्वाधिकपदत्वाख्य-  
वाक्यदोषयोः पौनरुक्ताऽऽख्यायार्थदोषस्य च एकेनैवासम्मित-  
संज्ञया सङ्ग्रहः सूचितः, नवीनोक्तेष्वेतेषु दोषेषु शब्दार्थयोः  
सम्मितत्वाभावादित्यवधेयम् । अत्र शाब्दबोधविलम्बनं दूषकता-  
बीजम् । उदाहरति, यथेति ।—यथा मानसौकःपतद्द्यानदेवा-  
सनविलोचनः,—मानसं—तदाख्यं सरः, ओकः,—स्थानम्,  
( “ओकः सन्नाश्रयश्चौकाः” इत्यमरः ) यस्य तथोक्तः-यः पतन्

सीदाहरणमपक्रममाह,—

अपक्रमं भवेद् यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम् ।

यथा भुक्त्वा कृतज्ञानो गुरुन् देवांश्च वन्दते ॥२०॥

—पंक्षी, हंस इत्यर्थः, ( “पतत्रिपत्रिपतगपतत्पत्ररथाण्डजाः” इत्यमरः ) सः एव यानं—वाहनं यस्य तथाभूतः, यः देवः, —ब्रह्मा इत्यर्थः, ( “लोकेशो हसवाहनः” इति गोपालः ) तस्य आसनं—पद्मम् इत्यर्थः, ( “विरिञ्चिः कमलासनः” इत्यमरः ) तत् इव विलोचन—नयनं यस्य तथाभूतः, कमलाक्षः इत्यर्थः, जिनः,—बुद्धदेवः, वः,—युष्मभ्य, तमसाम्—अन्यकाराणां, रिपुः,—निवर्तकत्वेन शत्रुः, सूर्य इत्यर्थः, तस्य विपक्षः,—शत्रुः, राहुः इत्यर्थः, तस्य अरिः,—शत्रुः, निहन्ता इत्यर्थः, विष्णुः इति यावत्, तस्य प्रिया—लक्ष्मीः तां, दिशतु—ददातु । अत्र बहूनां शब्दानां, “कमललोचनः बुद्धदेवो युष्मभ्यं लक्ष्मीं ददातु” इति अर्थः स्वल्पः एव, इति शब्दार्थयोः असम्मितत्वात् असम्मितम् । इति ॥ १६ ॥

. अपक्रम लक्षयति, अपक्रममिति ।—यत्र—यस्मिन् वाक्ये, प्रसिद्धस्य—शास्त्रादौ ख्यातस्य, क्रमस्य—नियमस्य, लङ्घनम्—अतिक्रमः, तत् वाक्यम् अपक्रमम्—अपक्रमत्वाख्यदोषदुष्टमित्यर्थः, भवेत् । उदाहरति, यथेति ।—यथा भुक्त्वा—भोजनं कृत्वा, कृतज्ञानः,—ज्ञातः, गुरुन् देवान् च वन्दते—प्रणमति । अत्रादौ ज्ञानं, ततः देवगुरुप्रणामानन्तरं भोक्तव्यम् इति धर्मशास्त्रस्य नियमः, अत्र च स परित्यक्त इति अपक्रमम् । शाब्दबोधविलम्बन दूषकताबीजमत्र मन्तव्यम् । प्रसिद्धक्रमलङ्घनञ्चात्र द्विधा सम्भवति,—शास्त्रनिर्दिष्टक्रमविपर्ययः, अनेकेषु वक्तव्येषु प्रथममेकस्मिन्नुक्ते तदुत्तरवक्तव्यस्य यादृशी बुभुक्त्वा जायते, तत्र तथा-



सोदाहरणं कन्दोभ्रष्टमाह,—

कन्दःशास्त्रविरुद्धं यच्छन्दोभ्रष्टं हि तद् यथा ।

स जयति जिनपतिः परब्रह्म महानिधिः ॥२१॥

सोदाहरणं रीतिभ्रष्टमाह,—

रीतिभ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतिर्भवेद् यथा ।

जिनो जयति स श्रीमानिन्द्राद्यमरवन्दितः ॥२२॥

ऽनिर्देशश्च ; एवञ्च नवीनोक्तयोः प्रसिद्धित्याग-भग्नप्रक्रमताख्ययोः  
दोषयोरनेन सङ्ग्रहः सूचितः ॥ २० ॥

कन्दोभ्रष्टं लक्षयति, कन्द इति ।—यत्—वाक्यं, कन्दः-  
शास्त्रस्य विरुद्धम्—अननुकूलं, तत् हि वाक्यं कन्दोभ्रष्टं—  
तदाख्यदोषयुक्तमित्यर्थः । उदाहरति, यथेति ।—यथा परब्रह्म—  
परमात्मा, महानिधिः,—महारत्नभूतः इत्यर्थः, [ अत्र “परब्रह्म-  
महानिधिः” इति समस्तपदत्वाङ्गीकारे,—परब्रह्मणः,—परम-  
तत्त्वस्य, महानिधिः,—महान् आश्रयः इत्यर्थः ] सः,—प्रसिद्धः,  
जिनपतिः,—बुद्धदेवः, जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अत्र तृतीय-  
पादे “स जयति जिनपतिः” इत्यत्र आदिवर्णात् परं नगण-  
सम्बन्धात् : “ब्रह्मं नाद्यान्नसौ स्यातामब्धेर्योऽनुष्टुभि ख्यातम्”  
इति अनुष्टुबृत्तलक्षणस्य वैपरीत्यात् एतत् कन्दोभ्रष्टम् ॥ २१ ॥

रीतिभ्रष्टं लक्षयति, रीतिभ्रष्टमिति ।—यत्र—यस्मिन्  
वाक्ये, रीतेः,—गौडादेः, क्वाव्योत्कर्षविधाननियमस्य च  
अनिर्वाहः,—अननुसरणम्, अनभौष्टरीत्यन्तरेण खण्डितत्वा-  
दिति भावः, भवेत्, तत् रीतिभ्रष्टं, कथ्यते इति शेषः ।  
उदाहरति, यथेति ।—यथा इन्द्राद्यमरवन्दितः,—सुरेन्द्रादि-  
देवपूजितः, श्रीमान्—शोभासम्पन्नः, सः,—प्रसिद्धः, जिनः,  
—बुद्धदेवः, जयति—सर्वोत्कर्षेण वर्तते । अत्र प्रथमे

सोदाहरण यतिभ्रष्टमाह,—

पदान्तविरतिः प्रोक्तं यतिभ्रष्टमिदं यथा ।

नमस्तस्मै जिनंस्वामिने सदा नेमयेऽर्हते ॥२३॥

पादे असमस्तपदानां प्रयोगात् वैदर्भी रीतिः, द्वितीये तु “इन्द्राद्यमरवन्दितः” इति समासाश्रयणात् गौडी रीतिः । तथा च दर्पणे वैदर्भी-गौडीरीत्योर्लक्षणं यथा,—“माधुर्य-व्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका । अहत्तिरल्पहत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥” इति, “ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्वन्ध आडस्वरः पुनः । समासबहुला गौडी—”इति च । यथा रीत्या आरभ्यते, तथैव रीत्या कविभिः समाप्यते, इति नियमः, इह तु स लङ्घित इति रीतिभ्रष्टत्वदोषः । रीतिभ्रष्टत्वञ्च—कदाचित् यत्र यद्ग्रञ्जको यः समासः, तत्र तद्ग्रञ्जकस्थानपरिहारेण तस्मासकरणत्वं, कदाचित् बन्धस्य पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरत्र शैथिल्यादनुप्रासपाताच्च काव्यनिकर्षविशेषत्वम्, अविशेषे वक्तव्ये विशेषाभिधानात्, विशेषे च वक्तव्येऽविशेषाभिधानात्, अनियमेन वक्तव्ये नियमेन, नियमेन वक्तव्येऽनियमेन अभिधानाच्च, किं बहुना चमत्कारोद्दीधे यद्यदन्तरायभूतं तत्तदुपष्टम्भमूलत्वञ्च बोध्यम् ; तेन नवीनोक्तानां पतत्यकर्षत्वाऽस्थानसमासताऽऽदीनां दोषाणाञ्च अनेनैव सङ्ग्रहः कृतः इति सूच्यते ॥ २२ ॥

यतिभ्रष्टं लक्षयति, पदान्तरिति ।—पदस्य—विभक्त्यन्तस्य शब्दविशेषस्य, अन्तः,—मध्ये, विरतिः,—विच्छेदः, विरामः इत्यर्थः, इदं यतिभ्रष्टं प्रोक्तं—कथितम् । उदाहरति, यद्येति ।—यथा तस्मै—प्रसिद्धाय, जिनः,—बुद्धः, स्वामी—संभ्रदायप्रवर्तकः, यस्य तथाभूताय, अर्हते—“सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्य-पूजितः । यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥” इत्युक्त-

सोदाहरणमसत्क्रियमाह,—

क्रियापदविहीनं यत् तदसत्क्रियमुच्यते ।

यथा सरस्वतीं पुष्पैः श्रीखण्डैर्घुसृणैः स्तवैः ॥२४॥

अथ अर्थदोषानाह,—

देशकालाऽऽगमावस्थाद्रव्याऽऽदिषु विरोधिनम् ।

काव्येष्वर्थं न बध्नीयाद्विशिष्टं कारणं विना ॥ २५ ॥

स्वरूपाय, नेमये—तदाख्याय महापुरुषाय, सदा नमः । अत्र “जिनस्वामिने” इति पदस्य मध्ये “मि” इत्यत्र यतिः, इति यतिभ्रष्टम् । अत्र कवेरशक्त्युन्नयनं वाक्यार्थबोधप्रतीत्युपघातश्च दोषः ॥ २३ ॥

असत्क्रियं लक्षयति, क्रियेति ।—यत्—वाक्यं, क्रियापदेन विहीनं—रहितं, भवतीति शेषः, तत् असत्क्रियम्—असती—अविद्यमाना, क्रिया यत्र तथाभूतम्, असत्क्रियाख्यदोषदृष्टमित्यर्थः, उच्यते—कथ्यते । उदाहरति, यथेति ।—यथा सरस्वतीं—वाग्देवतां, पुष्पैः,—कुसुमैः, श्रीखण्डैः,—चन्दनैः, घुसृणैः,—कुङ्कुमैः, तथा स्तवैः,—स्तोत्रैश्च । अयं भाव,—“सरस्वतीं देवीं पुष्पैः अर्चयामि, चन्दनैः कुङ्कुमैश्च अनुलिम्यामि, स्तवैः कीर्त्तयामि” इत्येवं वक्तव्ये त्रयाणां क्रियापदानामनुक्तेः तानि अध्याह्वयन्ते इति क्रियापदानामनुपादानादस्यासत्क्रियाख्यदोषदृष्टत्वमिति । अत्र च क्रियापदमुपलक्षणं, “स्वप्रतिपन्नत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वमुपलक्षणत्व” तेन न केवलं क्रियापदानाम्, अपि तु पदमात्राणामित्यभिप्रायः ; ततश्च नवीनोक्तयोः न्यूनपदत्वानभिहितवाच्यत्वयोरपि लाभः अनेनैव सूचित इति भावः ॥ २४ ॥

एवं वाक्यमात्रदोषान् अभिधाय अर्थदोषानाह, देशेति ।—

देशः,—नगरादिः, कालः,—वसन्तादिः, आगमः,—शास्त्रं,  
 लक्षणया तत्तद्विद्येत्यन्ये ; अवस्था—दंशा, द्रव्यम्—अर्थः,  
 भूम्यादिरिति यावत्, [ आदिपदेन गुणक्रियाजातीनां ग्रहणं ]  
 तेषु विषयेषु इत्यर्थं, विरोधिनं—विरुद्धतया प्रतिभासमानं,  
 विपरीतमित्यर्थः, अर्थं विशिष्टम्—असामान्यं, कारणं—हेतु-  
 विशेष विना, काव्येषु न बध्नीयात्—न योजयेत् । देश-  
 कालाद्यौचित्यनिबन्धन एव काव्यार्थः साधीयान्, अन्यथा-  
 करणे कवेरव्युत्पन्नत्वप्रतीतौ उपहासः सम्पद्येत इति भावः ।  
 तथाऽऽहुश्चित्रमौमांसाकाराः,—“देशागमकालगुणावस्थाजाति-  
 क्रियाऽऽदिदुष्टता हेयाः” इति ; साहित्यदर्पणकारा अप्याहुः,  
 —“अर्थानौचित्यमन्यच्च” इति, अन्यदनौचित्यं देशकालादी-  
 नामन्यथा यद्वर्णनम् इति चेत्यर्थः । यद्यपि दर्पणकृता,—“अपुष्ट-  
 दुष्कमग्राम्यव्याहतास्त्रीलकष्टताः । अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशित-  
 विरुद्धताः ॥ सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे ख्यातिविद्याविरुद्धते । साका-  
 ह्यता सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ अविशेषे विशेषश्चानियमे  
 नियमस्तथा । तयोर्विपर्ययो विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ निर्मुक्त-  
 पुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ॥” इत्यर्थदोषा अभिहिताः, देश-  
 कालादिविरुद्धता तु रसदोषेषु गणिता, तथाऽपि देशादिविरुद्ध-  
 ताया रसदोषत्वेन अपुष्टत्वादीनां पुनरर्थदोषत्वेनाभिधानं मत्त-  
 गजक्रीडितमुत्प्रेक्षामहे । तथा हि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषा-  
 दीनां पदादिनिष्ठत्वविभागाङ्गीकारः, देशादिविरुद्धता चान्वय-  
 व्यतिरेकाभ्यामर्थतन्त्रा इत्यस्या रसदोषत्वं न कथमपि युक्तम् ।  
 एवमेव अपुष्टत्वादीनामनर्थकत्वादिपदादिदोषमात्रत्वं सम्भवति ;  
 एतेन नवनोक्तानामपुष्टत्वादीनां निरुक्तेषु पदवाक्यदोषेषु  
 अनर्थकत्वादिष्वेवान्तर्भाव्यत्वोपपत्तौ अर्थदोषत्वाङ्गीकारः परा-  
 हतः । अपुष्टत्वादीनामन्तर्भावश्चेत्यम्,—अपुष्टत्वं नाम मुख्या-

नुपकारित्वम् ; इदञ्च,—“प्रस्तुतेऽनुपयुक्तं यत्तदनर्थकमुच्यते” इत्युक्तानर्थकत्वाभिन्नमेव ; एतेन “विलोक्य वितते व्योम्नि” इत्यादौ अपुष्टत्वस्य दोषान्तराङ्गीकारो निरस्तः । “देहि मे वाजिनं राजन् । गजेन्द्र वा मर्दालसम्” अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम्” इति निर्दिष्टः पुनर्दुष्कृतत्वदोषः, “अपक्रमं भवेद् यत्र प्रसिद्धक्रमलङ्घनम्” इत्युक्तापक्रमत्वापरपर्यायः । ग्राम्यत्व व्याहृतत्वे—“स्वपिहि त्व समोपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये । अत्रार्थो ग्राम्यः ।” “कस्यचित् प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाऽभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादन व्याहृतत्वम् ।” यथा,—“हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलाऽऽदयः । वीक्ष्यते यैरिय तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥” अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुः तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः” इति निर्दिष्टे, ते “ग्राम्यं यच्च प्रजायेत पदं तन्न प्रयुज्यते । व्याहृतार्थं यदिष्टार्थ-बाधकार्यान्तराश्रयम् ॥” इत्युक्तस्वरूपे । “हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः । यथाऽऽशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥ अत्रार्थोऽस्त्रीलः ।” इत्युदाहृतस्यास्त्रीलत्वस्य कदाचिद् ग्राम्यत्वे कदाचित् पुनर्व्याहृतत्वेऽन्तर्भावः सुवचः, प्राचीनोक्तग्राम्यत्व-व्याहृतत्वोभयलक्षणाक्रान्ततया तयोर्दर्शनात् । “वर्षत्येतदहर्षतिर्न तु धनो धामस्थमृच्छं पयः सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः । व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः श्रद्धा न कस्य श्रुतौ न प्रत्येति तथाऽपि मुग्धहरिणौ भास्वन्मरीचिष्वपः ॥ अत्र यस्मात् सूर्याद्दृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात् तयोर्जलमपि सूर्यप्रभव, ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्यय-हेतुत्वमुचितम् ; तथाऽपि सृगी भ्रान्तत्वान्तत्र जलप्रत्ययं न करोतौत्ययमप्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्वोधः, दूरे च अस्मात् प्रस्तुतार्थ-बोधः । इति कष्टार्थत्वम् ।” इति निर्दिष्टस्य “यस्य नास्ति

प्रसिद्धिस्तदप्रसिद्धं विदुः—” इत्युक्तेनाप्रसिद्धत्वेन गतार्थत्व स्पष्ट, न हि जलधरादृष्टेरिव कलिन्दगिरिर्यमुनाया इव च सूर्यात्तयोः प्रभवः प्रसिद्धः । “सदा चरति खे भानुः सदा वहति मारुतः । सदा धत्ते भुव शेषः सदा धीरोऽविकल्पनः ॥ अत्र सदेत्यन-वौक्ततत्वम् ।” इत्यनवौक्ततत्वस्य नवीनोक्तदोषस्य पुनः “रीति-भ्रष्टमनिर्वाहो यत्र रीतेर्भवेत्—” इति प्राचीनोक्ते भ्रष्टरीति-कत्वेऽन्तःपातः सुवचः; रीतिपदेन काव्योत्कर्षविधाननियम-स्यापि सङ्गहात् । “गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि प्रभावादुयस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः । परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भयाद्विमोक्षे शस्त्र । त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥ अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।” इत्युक्ता निर्हेतुता ग्राम्यत्वेन च सङ्गृहीता, ग्राम्योक्तेः निर्हेतुत्वादिना दुष्टत्वात् । “कुमारस्ते नराधीश ! श्रियं समधिगच्छतु । अत्र त्व स्त्रियस्वेति विरुद्धार्थप्रकाशनात् प्रकाशितविरुद्धत्वम् । “अचला, अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनौषिणः ।” अत्र प्रकरणाभावात् शान्तशृङ्गारिणोः को वक्ता इति निश्चयाभावात् सन्दिग्धत्वम् ।” इति निर्दिष्टयोः नवीनोक्तयोः प्रकाशितविरुद्धत्व-सन्दिग्धत्वयोश्च प्राचीनोक्तव्याह-तत्वाभिन्नत्वम् । अथ “सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदा पदम् । वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वय-मेव सम्पदः ॥ अत्र द्वितीयार्धव्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता ।” प्रसिद्धिविरुद्धता यथा,—“ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः । अत्र हरः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम् ।” “अधरे करजक्षत मृगाद्याः” अत्र शृङ्गारशास्त्रविरुद्धत्वाद्द्विद्या-विरुद्धता । “ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्रस्य च समुन्नतिम् । स्त्री-रत्नञ्च कथ नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥ अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितु-

मित्याकाङ्क्षता।” “सज्जनो दुर्गतौ मग्नः कामिनी गलितस्तनी ।  
खलः पूज्यः समज्यायां तापाय मम चेतसः ॥ अत्र सज्जनः  
कामिनो च शोभनी, तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचर-  
भिन्नत्वम् ।” “आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी, शास्त्राणि चक्षु-  
र्नवं, भक्तिर्भूतपती पिनाकिनि, पदं लङ्घेति दिव्या पुरी । उत्पत्ति-  
र्द्रुहिणान्वये च, तदहो । नेट्रग्वरी लभ्यते स्याच्चेदेष न रावणः  
क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ अत्र न रावणः इत्येतावतैव  
समाप्यम् ।” “हीरकाणा निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।  
अत्र रत्नानां निधेः इत्यविशेष एव वाच्यः ।” “आवर्त्त एव  
नाभिस्ते नेत्रे नीलसरोरुहे । अत्रावर्त्त एवेति नियमो न  
वाच्यः ।” “यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीश्वभिसारिकाः ।  
अत्र तमिस्रास्त्रिति रजनीविशेषो वाच्यः ।” “आपातसुरसे  
भोगे निमग्नाः किं न कुर्वन्ते ? अत्रापात एवेति नियमो  
वाच्यः ।” “आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति । अत्र  
परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम्” इति विध्य-  
युक्तत्वम् । “चण्डीशचूडाभरण ! चन्द्र ! लोकतमोऽपह ! ।  
विरहिप्राणहरण । कदर्थय न मां वृथा ॥ अत्र विरहिण  
उक्तौ तृतीयपादार्थो नानुवाच्यः,” इत्यनुवादायुक्तता । “लग्नं  
रागावृताङ्गा सुदृढमिह ययैवासियध्याऽरिकखे मातङ्गानाम-  
पीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती । तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गण-  
यति विदित तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितु-  
मिति गतेवाग्बुधिं यस्य कीर्त्तिः ॥ अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन  
समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।” इत्युदाहृतेषु  
त्रयोदशसु पुनरुक्तत्वादिषु दोषेषु आद्यपञ्चमत्रयोदशानां पुन-  
रुक्तत्व-सहचरभिन्नत्व-निर्मुक्तपुनरुक्तत्वानां दोषाणा अष्टरीति-  
कत्वेन, द्वितीयस्य ख्यातिविरुद्धत्वस्य दोषस्य प्राचीनाभिमतेना-

तदुदाहरणमाह,—

प्रवेशे चैत्रस्य-स्फुटकुटजराजिसमितदिशि

प्रचण्डे मार्त्तण्डे हिमकणसमानोष्ममहसि ।

जलक्रीडायातं मरुसरसि बालद्विपकुलं

मदेनाम्भं विध्यन्त्यसमशरपातैः प्रशमिनः ॥ २६ ॥

प्रसिद्धत्वेन, तृतीयस्य विद्याविरुद्धत्वस्य ग्राम्यत्वेनागमविरुद्धत्वेन वा, चतुर्थसप्तमाष्टमनवमदशमानां साक्षाद्भव-अविशेषविषय-विशेष-अनियमविषयनियम-विशेषविषयाविशेष-नियमविषयानियमत्वानां “शब्दार्थौ यत्र न तुलाविधृताविव सम्मतौ । तद-सम्मितमित्याहुः—” इत्युक्तेनासम्मतत्वेन, षष्ठैकादशद्वादशानाम-स्थानयुक्तत्व-विध्ययुक्तत्व-अनुवादायुक्तत्वाख्यानां चैव दोषाणां पूर्वोक्तेन व्याहृतत्वेन गतार्थत्वम् । एवं नवीनोक्तानामपुष्टत्वा-दीनामर्थदोषाणां प्राचीनोक्तेषु अनर्थकत्वादिषु एव अन्तर्भावोप-पत्तौ तेषां पृथक्तयाऽङ्गीकार आग्रहमूल उन्मादान्धतानिदर्शन-मेव वा प्रतिभासते सचक्षुषा पुरतः इति दिक् ॥ २५ ॥

देशकालादिविरुद्धत्वे निबध्यमानस्यार्थस्य द्रुष्टत्वमुदाहरति, प्रवेशे इति ।—स्फुटा—विकसितपुष्पा इत्यर्थः, या कुटजानां—गिरिमल्लिकानां ( “कुटजो गिरिमल्लिका” इत्यमरः ) राजिः,—पङ्क्तिः, सा एव स्मितम्—ईषडासः, यासां तथाभूताः, दिशः यत्र तादृशे, चैत्रस्य—मधुमासस्य ( “स्याच्चैत्रे चैत्रको मधु” इत्यमरः ) प्रवेशे—प्रवृत्तौ, आरम्भे इत्यर्थः, हिमानां—तुषाराणां, ( “अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्” इत्यमरः ) कणाः,—विन्दवः, तैः समानानि—तुल्यानि, तत्तुल्य-श्रीतलानीति भावः, उष्ममहासि—उष्णतेजासि, यस्य तथोक्ते, यथा हिमानीपातः, तथैव उष्मप्रसर इति तेषां साम्यम् इति भावः, मार्त्तण्डे—सूर्ये, ( “विकर्त्तनार्कमार्त्तण्डमिहिरारुण-



प्रकरणमुपसहरति,—

इति दोषविषनिर्षेकै-

रकलङ्कितमुज्ज्वलं सदा विबुधैः ।

पूषणः” इत्यमरः) प्रचण्डे—तीव्रातपे, उग्रतां गते सति इत्यर्थः,  
 प्रशमिनः—शान्ताः, योगिनः इत्यर्थः, मरुसरसि—मरुः,—  
 तदाख्यो निर्जलो देशविशेषः एव सरः,—जलाशयः, यद्वा,  
 मरौ—मरुभूमौ, सरः तस्मिन्, जलक्रोडायै आयातम्—आग-  
 तम्, [ एतेन द्विपानां वन्यत्वमपि सूचितम् ] मदेन अन्धं—मदो-  
 ऽन्ततया सर्वमेवावज्ञानन्तं, बालद्विपकुलं—करिशावक-  
 वृन्दम्, असमशरपातैः,—निरुपमबाणवर्षणैः, विध्यन्ति—प्रह-  
 रन्ति । अत्र चैत्रस्य प्रवेशे कुटजकुसुमाना विकाशः काल-  
 विरुद्धः, तस्य वर्षास्वेव सम्भवात्, हिमकणवत् सूर्यतेजस उष्ण-  
 त्वाभिधानं द्रव्यविरुद्धं, तथाभूतस्य च सूर्यस्य प्रचण्डत्वाभिधानं  
 स्वभावविरुद्धं, मरुदेशे जलस्य तथा हस्तिनामेवासम्भवः, का  
 पुनस्तडागकथा, किं वा तत्र क्रोडार्थं हस्तिनामागमनमिति  
 तथा वर्णनं देशविरुद्धं, बालानां द्विपानाञ्च मदमत्तत्वाभि-  
 धानमवस्थाविरुद्धं, यौवने एव तेषां मदसम्भवात्, वनद्विप  
 वेधनमेव शास्त्रविरुद्धं किं पुनः प्रशमिजनकर्तृकम् इत्येवं विरुद्ध  
 मभिधानं कवेर्हास्यायैष सम्पद्यते इति बोध्यम् । शिखरिणी  
 वृत्तम् ॥ २६ ॥

उक्तमर्थमुपसहरंस्तदनुभवप्रकारमाह, इतीति ।—इति—  
 एवमुक्ताः, दोषाः,—अनर्थकत्वादयः, एव विषाणि—हाला-  
 हलाः, तैः निर्षेकाः,—मिश्रीभावाः, समिश्रणानीति यावत्,  
 तैः अकलङ्कितम्—अदूषितम्, उज्ज्वलम्—अनर्थकत्वादिदोष-  
 शून्यत्वे सति गुणालङ्कारयुक्ततया सचमत्कारं, कवेः हृदयम् एव

कविहृदयसागरोत्थित-

अमृतमिवास्वादयते काव्यम् ॥ २७ ॥

इति ब्राम्हणलङ्कारे द्वितीय परिच्छेद ॥ २ ॥

तृतीयः परिच्छेदः ।

—००:०५:००—

गुणप्रयोजनम्,—

अदोषावपि शब्दार्थौ प्रशस्येते न यैर्विना ।

तानिदानीं यथाशक्ति ब्रूमोऽभिव्यक्तये गुणान् ॥ १ ॥

सागरः,—समुद्रः, तस्मात् उत्थितम्—उद्भूतं, काव्य—कवित्वम्,  
अमृतम् इव विबुधैः,—विद्वद्भिः, देवैश्च, सदा आस्वादयते—सान-  
न्दम् आलोच्यते, निपौयते चेत्यर्थः । आर्या वृत्तम् ॥ २७ ॥

इति द्वितीयपरिच्छेदः ॥ २ ॥

काव्यस्य दोषराहित्येऽपि यदसत्त्वे न प्रशंसनीयत्वं स्यात्,  
तान् गुणानाह, अदोषाविति ।—शब्दार्थौ अदोषौ अपि—  
प्रशस्तदोषरहितौ अपि, यैः,—गुणैः, विना न प्रशस्येते—न  
प्रशंसाम् अर्हतः, इदानीं तान्—निरुक्तदिशा दोषशून्यत्वेऽपि  
काव्यस्य प्रशंसाऽवष्टम्भताहेतुभूतान्, गुणान् यथाशक्ति—  
शक्तिम् अनुसृत्य, अभिव्यक्तये—प्रकटीकर्तुम् इत्यर्थः, [ एतेन  
गुणानां साकल्येन अभिधातुं प्रतिज्ञा सूचिता भवति ] ब्रूमः,—  
कथयामः ॥ १ ॥

गुणनामानि,— •

श्रीदार्य्यं समता कान्तिरर्थव्यक्तिः प्रसन्नता ।

समाधिः श्लेष ओजोऽथ मांधुर्य्यं सुकुमारता ॥ २ ॥

सीदाहरणमौदार्य्यमाह,—

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।

मिलितानां यदाधानं तदौदार्य्यं स्मृतं यथा ॥३॥

के च ते इत्याकाङ्गायामाह, श्रीदार्य्यमिति ।—१ श्रीदार्य्यम्—उदारता, २ समता—समानत्वम्, ३ कान्तिः,—शोभा, ४ अर्थव्यक्तिः,—अर्थस्य परिस्फुटतर्या प्रतीतिः, ५ प्रसन्नता—प्रसादः, ६ समाधिः,—समाधानम्, ७ श्लेषः,—अनेकार्थप्रत्यायकतया सङ्घटना, ८ ओजः,—उत्कण्ठबन्धत्वम्, ९ मांधुर्य्यं—मधुरता, १० अथ सुकुमारता—कीमलविन्यासश्च, इत्येव दश गुणा ज्ञेया इति शेषः । एते च शब्दगता अर्थगताश्च स्युः, तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—“प्रसादः समता श्लेषो मांधुर्य्यं सुकुमारता । ओजः कान्तिः समाधानमर्थव्यक्तिरुदारता । इत्येते शब्दगो ज्ञेया अर्थगताश्च गुणा बुधैः ॥” इति यद्यपि नात्र परिष्कृत्योक्ताः, तथाऽपि व्याख्यायां तत्र तत्र तथा दर्शयिष्यामः इति बोध्यम् ॥ २ ॥

एवं गुणान् नामतो निर्दिश्य क्रमेण लक्षयितुं प्रवृत्तः, तत्र तावत् श्रीदार्य्यं लक्षयति, पदानामिति ।—अर्थस्य—अभिधेयस्य, चारुत्वं—मनोज्ञत्वं, तस्य प्रत्यायकानि—बोधकानि, यानि पदान्तराणि—अन्यपदाः, तैः सह मिलितानां—सङ्गतानां, पदानां—विभक्त्यन्तशब्दानां, यत् आधानं—रचनं, प्रयोग इति यावत्, तत् श्रीदार्य्यम्—उदारता, तदाख्यो गुण इति यावत्, स्मृतं—कथितम् । तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—

गन्धेभविभ्रांजितधाम लक्ष्मी-  
लीलाम्बुजच्छत्रमपास्य राज्यम् ।  
क्रीडागिरौ रैवतके तपांसि  
श्रीनेमिनाथोऽत्र चिरं चकार ॥४॥

“प्रस्फुटं भव्यमर्थं ये कथयन्तीव संस्थिताः । श्रीदार्यं तेषु  
शब्देषु सोऽर्थोऽप्यौदार्यभाङ्गतः ॥” इति । यथेति—अत्र यथा-  
शब्दः वक्ष्यमाणोदाहरणार्थं प्रयुक्त इति बोध्यम् ।

उदाहरति, गन्धेति ।—लक्ष्णोक्तयथाशब्दोऽत्र अनुषज्यते,  
यथा श्रीनेमिनाथः,—श्रीमान् नेमिस्रामी, गन्धा,—गन्ध-  
प्रधानाः, प्रस्फुटमदगन्धा इत्यर्थः, ये इभाः,—हस्तिनः, ते  
गन्धेभाः,—गन्धगजा इत्यर्थः, तैः विभ्राजितानि—सुशोभि-  
तानि, धामानि—स्थानानि, भवनानीति यावत्, यस्मिन्  
तथोक्तं, लक्ष्म्याः,—राजश्रियाः, लीलाम्बुजम् इव—क्रीडापद्मम्  
इव, छत्रम्—आतपत्रं, यस्मिन् तथाभूतम्, अतीव भोगसुखकरम्  
इति भावः, राज्यम् अपास्य—विहाय, अत्र रैवतके—तदाख्ये,  
क्रीडागिरौ—विहारसुभगे पर्वते, चिर—दीर्घकालं, तपांसि  
चकार । [ अत्र गन्धशब्देन इभाना, लीलाशब्देन अम्बुजस्य,  
तेन च छत्रस्य, तेनापि राज्यस्य, क्रीडाशब्देन गिरेश्च चारुत्व  
व्यज्यते ], एषा केवलाना गन्धादिपदान्तरसान्निध्यमन्तरा  
तादृशचारुत्वप्रत्यायकत्वाभावात् इति श्रीदार्यम् । इन्द्रवज्रा  
वृत्तम् । इदं शब्दगतस्योदाहरणम्, अर्थगतस्य तु—“प्रमोद-  
भरतुन्दिलप्रमथदत्ततालाऽऽवली विनोदिनि विनायके उमरु-  
डिण्डिमध्वानिनि । ललाटतटविस्फुटन्नवक्वर्पीटयोनिच्छटो  
हठोद्धतजटोद्धटो गतपटो नटो नृत्यति ॥” इत्युदाहरणं स्पष्टं  
चोद्धटभट्टकतेऽलङ्कारशेखरे ॥ ३ ॥ ४ ॥

समतां कान्तिञ्च सीदाहरणमाह,—

बन्धस्य यद्वैषम्यं समता साञ्च्यते बुधैः ।

यदुज्ज्वलत्वं तस्यैव सा कान्तिरुदिता यथा ॥ ५ ॥

कुचकलसविसारिस्फारलावण्यधारा-

मनुवदति यदङ्गासङ्गिनी हारवल्ली ।

समतां कान्तिञ्च क्रमेण एकपद्ये एव लक्षयति, बन्धस्येति ।

—बन्धस्य—रचनस्य, यत् अवैषम्यम्—अविसंवादिता, अन्वो-  
ऽन्याविरोधः इति यावत्, सा बुधैः,—आलङ्कारिकैः, समता-  
तदाख्यो गुणः, उच्यते । तथोक्तं रसगङ्गाधरकारैः,—“वर्ण्यं  
मानन्तु यद्वस्तु तद्योग्या पदयोजना । समत्वं स्याद् गुण  
शब्दः, आर्थो बन्धानुगामिनी । वस्तुनो घटना—” इति  
तस्यैव—बन्धस्यैव, च यत् उज्ज्वलत्वं—बन्धमाधुर्यव्यपोहक  
विसर्गसङ्गावादिना उद्दोषत्वं, सा कान्तिः,—तदाख्यो गुणः  
उदिता—कथिता । तथाऽऽह रसगङ्गाधरकाराः,—“नृत्यव्याय  
पदा कान्तिः शब्दगाऽर्थगता पुनः । स्फुरदर्थी मता वस्तुवर्णना  
कविसत्तमैः ॥” इति । अत्रापि यथाशब्दः पूर्व्ववत् उदाहर  
णार्थं ज्ञेयः ।

क्रमादुदाहरति, कुचेति।—कामपि नायिकाम् आलो-  
कितवतः कस्यचित् सखायं प्रति उक्तिरियम् । यस्याः,—नायि-  
कायाः, अङ्गासङ्गिनी—अङ्गस्थिता, हारवल्ली—हारलता, कुच-  
कलसयोः,—स्तनकुम्भयोः, कलसोपमस्तनयोरुपरौत्यर्थः, विसा-  
रिणी—प्रसरन्ती, या स्फारा—उत्कटा, अत्युज्ज्वला इत्यर्थः,  
लावण्यधारा,—“सुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।  
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिति स्मृतम् ॥” इत्युक्तलक्षणा

असदृशमहिमानं तामनन्योपमेयां

कथय कथमहं ते चेतसि व्यञ्जयामि ॥६॥

फलैः क्लृप्ताहारः प्रथममपि निर्गत्य सदना-

दनासक्तः सौख्ये क्वचिदपि पुराजन्मनि कृती ।

कान्तिपरम्परा ताम्, अनुवदति—अनुकरोति, असदृशमहि-  
मानं—निरूपमयशःशालिनीम्, अत एव अनन्योपमेयां—न  
अन्यत् उपमेयम्,—उपमेयभूता अन्या कान्तेत्यर्थः, यस्याः  
तथाभूताम्, अन्याभिः कान्ताभिः उपमातुमशक्यामित्यर्थः,  
स्वेनैव स्वयंसदृशमिति भावः, तां—कान्तां, ते—तव, चेतसि  
—हृदये, अहं कथं—केन प्रकारेण, व्यञ्जयामि—प्रकटयामि,  
प्रकाशयामि इत्यर्थः, तथाभूताया अन्यस्या अनुपलब्धौ तां  
बोधयितुमपि अशक्तोऽहमिति भावः; कथय—ब्रूहि । अत्र  
सर्वेष्वेव पदेषु तुल्यमाधुर्यमास्वाद्यते इति बन्धस्य साम्यम् ।  
मालिनी वृत्त,—“ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः” इति  
तल्लक्षणम् । इदञ्च शब्दगतायाः समताया उदाहरणम् ; अर्थ-  
गतायास्तु यथा चित्रमीमांसायाम् ;—“स्वर्गनिर्गतनिरर्गल-  
गङ्गातुङ्गभङ्गरतरङ्गसखानाम् । केवलासृतमुचा वचनाना यस्य  
लास्यगृहमास्यसरोजम् ॥” इति । [ लास्यगृहमित्यत्र लास्य-  
भरमिति पाठान्तरम् ] ।

एवं समतामुदाहृत्य, कान्तिमुदाहरति, फलैरिति ।—कृती  
—कृताथे, असौ—पुमान्, पुराजन्मनि—पूर्वजन्मनि, प्रथमम्  
अपि—बाल्ये एव इत्यर्थः, सदनात्—गृहात्, (“गृहगेहोद-  
वमितं . . . । . . . . .सदनं भवनागारमन्दिरम्” इत्यमरः)  
निर्गत्य—वहिर्निःसृत्य, गार्हस्थ्यं परित्यज्य इत्यर्थः, फलैः  
क्लृप्ताहारः,—विहितभोजनः, क्वचित् अपि—कस्मिंश्चिदपि,

तपस्यन्नश्रान्तं ननु वनभुवि श्रीफलदलै-  
रखण्डैः खण्डेन्दोश्चिरमकृत पादारचनमसौ ॥७॥

सीदाहरणामर्थव्यक्तिमाह,—

यद्नेयत्वमर्थस्य साऽर्थव्यक्तिः स्मृता यथा ।

त्वत्सैन्यरजसा लुप्ते सूर्ये रात्रिरभूद्दिवा ॥८॥

सौख्ये—भोगसुखे इत्यर्थः, अनासक्तः,—आसक्तिरहितः सन्,  
अश्रान्तम्—अविरतम्, अगणितश्रममिति यावत्, यथा तथा  
तपस्यन्—तपश्चरन्, ननु—निःसन्देहं, वनभुवि—अरण्यदेशे,  
अखण्डैः,—अभग्नैः, श्रीफलदलैः,—विल्लपत्रैः, चिरं—दीर्घ-  
कालं व्याप्य इत्यर्थः, खण्डेन्दोः,—खण्डः,—अर्ध इत्यर्थः, इन्दुः,  
—चन्द्रः, भाले धार्यत्वेन यस्य तादृशस्य, हरस्येत्यर्थः, पादारचनं  
—चरणपूजनम्, अकृत—कृतवान् । शिखरिणी वृत्तं,—“रसै  
रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी” इति तल्लक्षणम् । अत्र न  
संहिता विरूपा, न त्रा समासी दीर्घः, न च दुर्बोध्यानि पदानि,  
अतो बन्धस्य उक्त्वत्वम् इति कान्तः । इयञ्च शब्दगतीदा-  
हृता, अर्थगता तु यथोदाहृता मन्मटभट्टैः,—“गुरुमध्ये कम-  
लाक्षी कमलाक्षेण प्रहर्तुकामं माम् । रदयन्वितरसनाऽग्रं  
तरलितनयनं निवारयाञ्चकौ ॥” इति ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

श्लोकार्थेन अर्थव्यक्तिं लक्षयति,—यदिति।—अर्थस्य—प्रति-  
पाद्यस्य, यत् अनेयत्वम्—अध्याहारादिकष्टकल्पनामन्तरेण  
प्रयुक्तपदेभ्य एवोपस्थितिः, सुखबोध्यत्वमित्यर्थः, सा अर्थव्यक्तिः  
स्मृता । क्रमदीश्वरेणाप्युक्तं,—“यावद्वाच्याभिधानं यत्तदर्थव्यक्ति-  
लक्षणम्” इति । इयं शब्दगताऽर्थव्यक्तिः ; अर्थगता तु—“भव्यार्थै-  
र्मृदुलैः शब्दैः स्फुरत्सरसवर्णना । रचनाऽर्थगताऽर्थस्य व्यक्तिः कवि-  
भिरोरिता ॥” इति स्पष्टं चित्रमीमांसायाम् । अर्थगतायाः स्वभा-

सोदाहरणां प्रसन्नतामाह,—

भटित्यर्थार्पकत्वं यत् प्रसत्तिः सोच्यते यथा ।

कल्पद्रुम इवाभाति वाञ्छितार्थप्रदो जिनः ॥६॥

वीक्ष्यलङ्कारेण परिगृहीतत्वात् नास्या अर्थगतत्व सम्भवति इति नव्याः ; तथाचोक्त दर्पणकारेण,—“अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यलङ्कारेण तथा पुनः” इति । शब्दगतामुदाहरति, यथेति ।—यथा तव सैन्याना रजसा—चरणताडनोत्थितरेणुना, सूर्यं लुप्ते—आच्छादिते सति, दिवा—दिवसे अपि, रात्रिः अभूत् । अत्र रात्रिहेतुः सूर्याच्छादनं, तस्य च रजः, तस्यापि त्वत्सैन्यं हेतुः इति अर्थस्य सुखगम्यता शब्दमृदुत्वमूला इति अर्थव्यक्तिः । इदं शब्दगताया उदाहरणम्, अर्थगतायास्तु यथा,—“मृद्धीका रसिता सिता समशिता स्फीतं निपीतं पयः स्वयन्तन सुधाऽप्यधायि कतिधा रन्नाऽधरः खण्डितः । तत्त्वं ब्रूहि मदीय-जीव ! भवता भूयो भवे भ्राम्यता क्लृण्वत्यक्षरयोरयं मधुरिमोद्गारः क्वचिक्लृप्तितः ? ॥” इति स्पष्ट काव्यालङ्कारे ॥ ८ ॥

प्रसन्नतां लक्षयति, भटित्तीति ।—भटिति—अविलम्बेन, पठन-श्रवणमात्रेण इत्यर्थः, यत् अर्थार्पकत्वम्—अर्थबोधकत्वं, बुधैः,—पण्डितैः, सा प्रसत्तिः,—प्रसन्नता, उच्यते । इदं शब्दगतायाः प्रसन्नताया लक्षणम्, अर्थगतायास्तु—“प्रसिद्धार्थैः पदैर्यत्र प्रसन्न वर्णन भवेत् । स प्रसादोऽर्थगः—” इति स्पष्टञ्चालङ्कारशेखरे । शब्दगतामुदाहरति, यथेति ।—यथा जिनः,—बुद्धदेवः, वाञ्छितार्थप्रदः,—अभीष्टवस्तुदानपरः, अत एव कल्पद्रुमः इव—कल्पतरुः इव, आभाति—राजते । अत्र अर्थस्य भटिति प्रतीतिः प्रसन्नता । इदं शब्दगताया उदाहरणम् ; अर्थगतायास्तु—“स्मृताऽपि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणामभङ्गुर-



सोदाहरण समाधिमाह,—

स समाधिर्यदन्यस्य गुणोऽन्यत्र निवेश्यते ।

यथाशुभिररिस्त्रीणां राज्ञः पल्लवितं यशः ॥ १० ॥

श्लेषमोजशाह,—

श्लेषो यत्र पदानि स्युः स्यूतानीव परस्परम् ।

ओजः समासभूयस्त्वं तद्गद्येष्वतिसुन्दरम् ॥ ११ ॥

तनुत्विषा बलयिता शतैर्विद्युताम् । कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुर-  
दुमालम्बिनौ मदीयमतिचुम्बिनी भवतु काऽपि कादम्बिनी ॥”  
इत्युदाहरणं स्पष्टञ्च रसतत्त्वविवेके ॥ ६ ॥

समाधिं लक्षयति, स इति ।—अन्यस्य—वस्त्वन्तरस्य, गुणः  
अन्यत्र—अपरस्मिन् वस्तुनि, निवेश्यते—आरोप्यते, इति यत् सः  
समाधिः । इदं पदगतस्य समाधेर्लक्षणम् ; अर्थगतस्य पुनः सोदा-  
हरणं लक्षणयथोक्तं चित्रमीमासाकारैः,—“गाढत्व शिथिलत्वञ्च  
रचनायां क्रमाद् यदि । रसानुकूले ते स्यातां समाधिः सोऽर्थ-  
सम्भवः ॥” इति । शब्दगतं समाधिसुदाहरति, यथेति ।—यथा अरि-  
स्त्रीणां—शत्रुमहिलानाम्, अशुभिः,—नयनजलैः, मर्तृविनाश-  
हेतुकैरिति भावः, राज्ञः,—विजेतुः इति भावः, यशः,—कीर्तिः,  
पल्लवितं—सञ्जातपल्लवं, विस्तारं गतम् इत्यर्थः । अत्र अन्यस्य  
लतावृक्षादेः पल्लवितत्वं गुणः अन्यस्मिन् यशसि निवेशितम् इति  
समाधिः । अर्थगतोऽयं यथोदाहृतः चित्रमीमासाकारैः,—“लीला-  
लकावलिबलन्नयनारविन्दलीलावशवदितलोकविलोचनायाः ।  
सायाहनि प्रणयिनो भवनं ब्रजन्त्या । चेता न कस्य हरते गति-  
रङ्गनायाः ॥” इति । अत्र हि पूर्वाहं समासदैर्घ्येण बन्धस्य  
गाढत्वं, परत्वं तु पदानामसमस्ततया शैथिल्यमेव ॥ १० ॥

श्लेषम् ओजश्च लक्षयति, श्लेष इति । यत्र—यस्यां रचनायां,

श्लेषीदाहरणम्,—

मुदा यस्योद्गीतं सह सहचरीभिर्वनचरै-

र्मुहुः श्रुत्वा हेलोद्धृतधरणिभारं भुजबलम् ।

दरोद्गच्छद्दर्भाङ्गुरनिकरदंभात् पुलकिता-

श्चमत्कारोद्रेकं कुलशिखरिणस्तेऽपि दधिरै ॥ १२ ॥

पदानि—शब्दाः इति भावः, परस्परम्—अन्योऽन्यं सूतानि इव—  
सश्लिष्टानि इव, स्युः,—भवेयुः, सः श्लेषः । विन्यासवशात् शिथिल-  
त्वेन अलक्ष्यमाणं वाक्यं श्लेषाख्यगुणयुक्तमिति फलितार्थः । शब्द-  
गतोऽयमुक्तः, अर्थगतस्तु यथोक्तः काव्यालङ्कारकता,—“अनेकार्थैः  
पदैर्भव्यो बन्धोऽथश्लेष उच्यते” इति । समासभूयस्त्व—समास-  
बाहुल्यम्, ओजः ; समासबहुलवाक्यविशिष्टत्वं ओजोगुणवत्त्व-  
मिति भावः ; तत्—ओजः, गद्येषु,—गद्यकाव्येषु, अतिसुन्दरम्—  
अतिमनोहरम् । अर्थगतन्तु यथोक्तमलङ्कारशिखरकारैः,—“बन्ध-  
सुन्दरताहेतुः स्वल्प वा भूरि वर्णनम् । ओजः—” इति ॥ ११ ॥

शब्दगत श्लेषमुदाहरति, सुदैति ।—ते—प्रसिद्धाः, कुल-  
शिखरिणः,—कुलपर्वताः, अपि “महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमा-  
वृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारि(पा)यात्रश्च सप्तात्र कुलपर्वताः ॥”  
इत्युक्ताः सप्त पर्वता इति भावः, वनचरैः,—व्याधैः, सहचरीभिः,  
—सङ्गिनीभिः, कामिनीभिरिति यावत्, सह मुहुः,—पुनः पुनः,  
उद्गीतम्—उच्चैर्गीतं, कीर्तितमित्यर्थः, हेलया—अवलीलया,  
उद्धृतः,—विनाशितः, धरणेः,—भुवः, भारः,—क्लेशः इति यावत्,  
दुष्टराजन्यात्पीडनजनित इति भावः, येन तत् तादृश,  
यस्य—रात्रः, भुजबल—बाहुवोर्यर्थं, श्रुत्वा—आकर्ण्य, दरोद्ग-  
च्छन्तः,—ईषदुन्मालन्तः, ये दर्भाङ्गुराः,—कुशाङ्गुराः, तेषां  
निकरः,—समूहः, स एव दन्धः,—व्याजः, यद्वा,—तस्य दन्धः  
तस्मात्, मुदा—आनन्देन, पुलकिता,—सञ्जातपुलकाः सन्तः,

ओजस उदाहरणम्,—

“समराजिरस्फुरदरिनरेशकरिनिकरशिरःसरससिन्दूरपूर-  
परिचयेनवारुणितकरतली देवः” [ इति गद्यम् ] ॥ १३ ॥

चमत्कारोद्रेकं—विस्मयविकास, दधिरे—धृतवन्तः । अत्र सर्वा-  
ण्येव पदानि राजकीर्तिसर्वव्यापित्वरूपार्थबोधने एकसूत्रनिबद्ध-  
मणिगणाः इव स्यूतानि इति श्लेषः । अत्र शिखरिणी छन्दः ।  
अर्थगतः श्लेषो यथा,—“करघटितचक्रघटनो नित्यं पीताम्बर-  
स्तमोऽरातिः । निजसेविजाद्यनाशनचतुरो हरिरस्तु भूतये भ  
ताम् ॥” इति । करः,—पाणिः, कराः,—किरणाः, चक्र—सु-  
र्शनं, कालचक्र वा, अम्बरम्—आकाशः, वसनं वा, तमः,—  
राहुः, अन्धकारो वा, जाद्यम्—अज्ञानं, मूर्खत्व वा, हरिः,—  
विष्णुः, सूर्यो वा । इत्येव पदानामनेकाद्यतया बन्ध उपमापर्थ  
वसार्थोक्तिर्भव्यः । स्पष्टश्च रसतत्त्वविवेके ॥ १२ ॥

गद्येन शब्दगतम् ओजः उदाहरति, समरेति ।—समरः,—  
सङ्ग्रामभूमिः, एव अजिरम्—अङ्गणं, तत्र स्फुरन्ति—राजनि-  
यानि अरिनरेशाना—शत्रुनृपतीनां, करिनिकरस्य—गण-  
समूहस्य, शिरांसि, छिन्नानि इति भावः, तेषु सरसाः,—  
आर्द्राः, ये सिन्दूरस्य पूराः,—कुल्याः, तेषां परिचयेन—सङ्गेन  
इव अरुणित—रक्तोक्तं, करतल यस्य तथाभूतः, देवः,—  
राजा, विराजते अत्र इति शेषः । अत्र समासबाहुल्या-  
ओजोगुणः । अर्थगतमोजो यथा,—“सरसिजवनबन्धुश्रीसमा-  
रम्भकाले रजनिरमणराज्ये नाशमाशु प्रयाति । परमपुरुष  
वक्त्रादुद्गताना नराणां मधुमधुरगिराञ्च प्रादुरासीद्विनोदः ॥’  
इति । इदञ्च पद्यं चित्रमोमांसायाः । अत्र हि पूर्वाद्धेन  
“प्रभाते” इति स्वल्पमेव तथा वर्णितम् ; एवं तृतीयेन पादेन  
ब्राह्मणानां गिरामित्यनेन “उद्गतानाम्” इत्यत्रान्वये वेदाना

सोदाहरणे माधुर्यसौकुमार्ये आह,—

सरसार्थपदत्वं यत् तत् माधुर्यमुदाहृतम् ।

अनिष्टुराक्षरत्वं यत् सौकुमार्यमिदं यथा ॥१४॥

फणमणिकिरणालीस्यूतचञ्चन्निचोलः

कुचकलशनिधानस्यैव रक्षाऽधिकारी ।

मिति च स्वल्पोऽर्थो विस्तरेणोक्तः । एवं भूरिवर्णस्य स्वल्पतया वर्णनेऽप्युद्धम् । गद्यगतस्यास्यैवोदाहरणं यथा,—“तनयमैनाक-  
गवेषणलम्बाक्ततजलधिजरठप्रविष्टहिमगिरिभुजायमानाया भग-  
वत्या भागीरथ्याः सखी ।” इति, अत्र हि—पातालगामिन्या  
इत्यर्थे. “तनय ..मानायाः” इत्यनेन विशदीकृतः ॥ १३ ॥

माधुर्यं सौकुमार्यञ्च लक्षयति, सरसेति ।—यत् सरसः,  
—रसयुक्तः, अर्थः यत्र तादृश पदं यत्र वाक्ये तस्य भावः  
तत्त्व, रसपेतार्थज्ञापकशब्दशालित्वमित्यर्थः, तत् माधुर्यं—  
तन्नामा शब्दगुणः, उदाहृतम्”, तथा यत् अनिष्टुराक्षरत्वम्  
—अकर्कशवर्णत्वम्, इद—तत्, सौकुमार्यम्, उदाहृतमिति  
• पूर्वतोऽन्वेति । माधुर्यमर्थगत पुनर्यथोक्तं रसगङ्गाधरकारैः,—  
“अर्थदुःश्रवताहानौ माधुर्यं चार्थसम्भवम् । अर्थक्लिष्टत्वशून्यत्वे  
पुनः स्यात् सुकुमारता ॥” इति ; वस्तुतस्तु माधुर्यसौकुमार्यं  
उभे अपि न भिन्ने तात्पर्येती लक्षणानतिरेकात् ।

माधुर्यमुदाहरति यथेति ।—कुचकलसनिधानस्य—कुचौ  
—स्तनौ, एव कलसौ—कुम्भौ, तावैव निधान—कोषः तस्य,  
स्तनकलसरूपरत्नागारस्येत्यर्थः, रक्षाऽधिकारो इव—रक्षाया  
नियुक्त इव इत्यर्थः, तद्रक्षा कर्तुमुपदिष्ट इवेति भावः, फण-  
मणिः,—फणस्थित रत्न, (“रत्न मणिर्द्वयोरश्मजातौ सुक्तादिकेऽपि  
च” इत्यमरः) तस्य किरणान्या—मयूखप्रवाहेण, स्यूतः,—प्रीतः,

उरसि विशदहारस्फारतामुज्जिहानः

किमिति करसरोजे कुण्डली कुण्डलिन्याः ॥ १५ ॥

प्रतापदीपाञ्जनराजिरेव

देव ! त्वदीयः करवाल एषः ।

नो चेदनेन द्विषतां मुखानि

श्यामायमानानि कथं कृतानि ॥ १६ ॥

व्यासः इति यावत्, अत एव चञ्चन्—स्फुरन्, निचोलः,—  
स्त्रियाः प्रच्छदपटः ( “निचोलः प्रच्छदपटः” इत्यमरः ) येन  
तथाभूतः, उरसि—वक्षसि, स्त्रियाः इति भावः, विशदः,—  
स्वच्छः, निर्मल इति यावत्, यः हारः तद्वत् स्फारतां—दैर्घ्यम्,  
उज्जिहानः,—प्राप्नुवन्, प्राप्तुम् अर्हन् इत्यर्थः, कुण्डली—भुजङ्गः,  
( “...भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः । ..कुण्डलो गूढपाच्चक्षुःश्रवाः काको-  
दरः फणी” इत्यमरः ) कुण्डलिन्याः,—कुण्डले—तदाख्ये कण-  
भूषणे, विद्यते यस्याः तथाक्तायाः, कुण्डलालङ्कृतायाः इत्यर्थः,  
कान्तायाः इति शेषः, करसरोजे—करकमले, किमिति—कथं,  
तिष्ठति इति शेषः । कुचमण्डलरूपानुपमरत्नकुम्भरक्षणार्थं नियु-  
क्तस्य भुजङ्गस्य रक्षणायं कुचमण्डलमुत्सृज्य करपद्मे अवस्थानं  
कथमिति नायकस्य वितर्कः इति बोध्यम् । अत्र नायिकायाः  
हस्तस्थितं हारं दृष्ट्वा कस्यचित् कामिनः सर्पश्चान्तिः इति शृङ्गार-  
रसानुगुणबन्धनात् माधुर्यम् । शिखरिणो वृत्तम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

एव माधुर्यमुदाहृत्य सोकुमार्यमुदाहरति, प्रतापेति ।—  
हे देव ।—हे राजन् । त्वदीयः,—तव सम्बन्धो, एषः,—पुरो  
वर्त्तमानः, करवालः,—असिः, प्रतापदीपस्य—तव ज्वलन्प्रता-  
पस्य इत्यर्थः, अञ्जनराजिः,—अञ्जलिखा एव, विद्यते इति

उपमहरति,—

गुणैरमीभिः परितोऽनुविद्धं

मुक्ताफलानामिव दाम रम्यम् ।

देवौ सरस्वत्यपि कण्ठपीठे

करोत्यलङ्कारतया कवित्वम् ॥ १७ ॥

इति वाग्भटांलङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

अप., नो चेत्—यदि तथा न इत्यर्थः, तदा अनेन—करवालेन, तद्दर्शनेन इति भावः, द्विषतां—शत्रूणां, मुखानि श्यामायमानानि—मलिनत्ववन्ति, कथे कृतानि—वृत्तानीत्यर्थः ; यद्वा,—अनेन—करवालेन, (कर्त्ता) द्विषतां मुखानि श्यामायमानानि कथे कृतानि ? अत्र पदानां कोमलत्वात् सोऽकुमार्यम् । उपजाति. वृत्तम् ॥ १६ ॥

गुणनिवेशनफलं निर्दिशन् प्रकरणमुपसंहरति, गुणैरिति । —देवौ—द्वीप्तिमतो, सरस्वतो अपि मुक्ताफलानां दाम इव—हारम् इव, अमीभिः,—उक्तैः इत्यर्थः, गुणैः,—माधुर्यादिभिः, सूत्रैश्चेत्यर्थः, परितः,—सर्वतः, अनुविद्धम्,—अन्वितं, स्यूतञ्चेति भावः, अत एव रम्य—मनोज्ञ, कवित्व—काव्यम्, अलङ्कारतया—अलङ्कारभावेन, कण्ठपीठे—कण्ठस्थल्यां, करोति—धत्ते ; यथा वराङ्गनाभिः महार्हरत्नहारं कण्ठशोभार्थं ससृष्टं धार्यते, एव माधुर्योजःप्रसादादिगुणसमन्वितं सुष्ठु काव्यदेव्या सरस्वत्या अपि स्वकण्ठशोभार्थं महार्हभूषणतया क्रियते इति भावः । एतेन सहजसौन्दर्यायाः सरस्वत्या अपि सुकविता भूषणं, किं वक्तव्यं मर्त्यानामिति काव्योत्कर्षः सूचितः । उपजातिः वृत्तम् ॥ १७ ॥

इति तृतीय परिच्छेदः ॥ ३ ॥

## चतुर्थः परिच्छेदः ।

अलङ्कारान् लक्षयति,

दोषैर्मुक्तं गुणैर्युक्तमपि येनोज्झितं वचः ।

स्त्रीरूपमिव नो भाति तं ब्रुवेऽलङ्घ्रियोच्चयम् ॥ १ ॥

अलङ्काराणां नामानि,—

चित्रं वक्रोक्त्यनुप्रासौ यमकं ध्वन्यलङ्घ्रियाः ।

अर्थालङ्घृतयो जातिरूपमा रूपकं तथा ॥ २ ॥

अथ अलङ्कारान् वक्तुं प्रस्तुवन् तदुपयोगित्वमाह, दोषैरिति ।  
—दोषैः,—पूर्वोक्तैः अनर्थकादिभिः, मुक्तं—विरहितं, तथा  
गुणैः,—प्रागुक्तैः ओदार्यादिभिः, युक्तम् अपि, वचः,—कवेर्वाक्य,  
येन—अलङ्कारसमुदायेन, उज्झितं—विहीनं सत्, स्त्रियाः,—  
नार्याः, रूपम् इव नो भाति—न राजते, तम् अलङ्घ्रियोच्चयम्  
—अलङ्घ्रियाणाम्—अलङ्काराणां शब्दगतानामर्थगतानाञ्चेत्यर्थः,  
उच्चयः,—समूहः, तं, सर्वान् अलङ्कारानिति भावः, ब्रुवे—  
कथयामि ; यथा पृतिव्रत्यादिगुणोपेता काणवाधिर्यादि-  
दोषपरिहीनाऽपि उत्तमाङ्गना भूषणहीना लोके नादरण्यौया,  
तथा अनर्थकत्वादिदोषपरिशून्यं माधुर्यादिगुणसमन्वितमपि  
कविवचः श्लेषोपमादिभिरलङ्कारैर्विना सभ्यानां चेतश्चम-  
त्कारितां नावहतीति अलङ्काराणामपि उपादेयत्वमिति  
भावः ॥ १ ॥

अलङ्काराश्च शब्दगता अर्थगताश्चेति द्विविधा इति निर्दिशन्  
तेषां नामानि आह, पञ्चभिः श्लोकैः चित्रमित्यादिभिः ।—

प्रतिवस्तूपमा भ्रान्तिमानाक्षेपोऽथ संशयः ।  
दृष्टान्तव्यतिरेकौ चापङ्कृतिस्तुल्ययोगिता ॥३॥  
उत्प्रेक्षाऽर्थान्तरन्यासः समासोक्तिर्विभावना ।  
दीपकातिशयौ हेतुः पर्य्यायोक्तिः समाहितम् ॥४॥  
परिवृत्तिर्यथासङ्गं विषमः ससहोक्तिकः ।  
विरोधोऽवसरः सारं संश्लेषश्च समुच्चयः ॥५॥  
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादिकावल्यनुमाऽपि च ।  
परिसङ्घा तथा प्रश्नोत्तरं सङ्कर एव च ॥६॥

चित्रम् इत्यादीनि अलङ्कारनामानि ज्ञेयानि । तत्र १ चित्रम्,  
२ वक्रोक्तिः, ३ अनुप्रासः, ४ यमकम्, एते चत्वारः ध्वन्यलङ्कियाः,  
—शब्दालङ्काराः; एवं १ जातिः, २ उपमा, ३ रूपकम्, ४ प्रति-  
वस्तूपमा, ५ भ्रान्तिमान्, ६ आक्षेपः, ७ संशयः, ८ दृष्टान्तः,  
९ व्यतिरेकः, १० अपङ्कृतिः, ११ तुल्ययोगिता, १२ उत्प्रेक्षा,  
१३ अर्थान्तरन्यासः, १४ समासोक्तिः, १५ विभावना,  
१६ दीपकम्, १७ अतिशयः, १८ हेतुः, १९ पर्य्यायोक्तिः,  
२० समाहितम्, २१ परिवृत्तिः, २२ यथासङ्गम्, २३ विषमः,  
२४ सहोक्तिः, २५ विरोधः,—विरोधाभासः, २६ अवसरः,  
२७ सारम्, २८ संश्लेषः,—श्लेषः, २९ समुच्चयः, ३० अप्रस्तुत-  
प्रशंसा, ३१ एकावली, ३२ अनुसा—अनुमानम्, ३३ परि-  
सङ्घा, ३४ प्रश्नोत्तरम्, ३५ सङ्करश्चेति । जात्यादयः सङ्करान्ताः  
पञ्चत्रिंशत्सङ्करकाः अर्थालङ्कृतयः,—अर्थालङ्काराः, ज्ञेया इति  
शेषः ॥ २—६ ॥



चित्रमाह,—

यत्राङ्गसन्धितद्रूपैरक्षरैर्वस्तुकल्पना ।

सत्यां प्रसक्तौ तच्चित्रं तच्चित्रं चित्रकृच्च यत् ॥७॥

उदाहरति,—

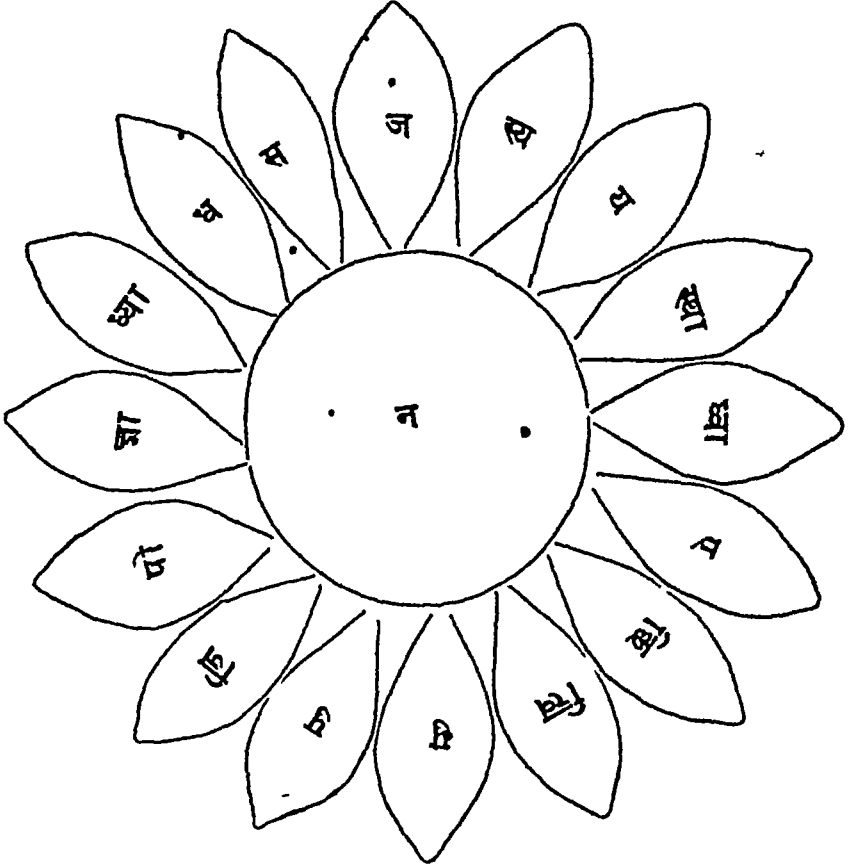
जनस्य नयनस्थानध्वान एनश्छिनत्त्विनः ।

पुनः पुनर्जिनः पौनञ्ज्ञानध्यानधनः स नः ॥ ८ ॥

एवं शब्दालङ्कारान् अर्थालङ्कारांश्च नामतो निदिश्य तत्र आदौ उद्देशक्रमप्राप्त चित्रालङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्यां रचनायाम्, अङ्गानाम्—अवयवान्, सन्धिः,—सङ्कलनं, तत्र—सङ्कलनविषये इत्यर्थः, तद्रूपैः,—तदनुरूपैः, तदनुकूलैः इति भावः, अक्षरैः,—वर्णैः, वस्तुजं,—प्रतिपाद्यस्य, कल्पना—कमलदलच्छत्रादिरूपेण रचना, विद्यते इति शेषः, तत्—तादृक् कल्पनमित्यर्थः, प्रसक्तौ—प्रसन्नतायां, प्रसादगुणशालित्वे इत्यर्थः, सत्यां—विद्यमानायां, चित्रं—तदाख्यः अलङ्कारः ; यच्च चित्रकृत्—सङ्घटनाविशेषेण चमत्कारकं, स्वस्वञ्जनसादृश्यात्मना बन्धवैशिष्ट्येन विस्मयावहमिति यावत्, तच्च—तदपि, चित्र—तन्नामाऽलङ्कारः ; यत्र पद्मखङ्गादिविविधबन्धनिर्माणकुशलिना कविना कमलदलच्छत्रादिरूपतदवयवतत्त्वसन्धिसङ्घटनानुरूपाः एकस्वरा वर्णा एकव्यञ्जना वा शब्दाः प्रयुज्यन्ते, स चित्रनामालङ्कार इति भावः ॥ ७ ॥

उदाहरति, जनस्येति ।—जनस्य—लोकस्य, नयने—नेत्रे, स्थान—पदं, यस्य तादृशः, ध्वानः,—शब्दः, निर्व्याणप्रवर्त्तकवचनम् इति भावः, यस्य तथाभूतः, यस्य निर्व्याणे अपि उपदेशपूर्णं सन्दर्भं लोकाः सततं पश्यन्ति इति भावः, पौने—परिपुष्टे, परिपाक प्राप्ते इति यावत्, ये ज्ञानध्याने—ज्ञान

षोडशदलकमलबन्धचित्रम् ।



गोभूतिकाबन्धचित्रम् ।

|    |    |     |    |    |    |      |   |        |   |      |      |   |      |    |
|----|----|-----|----|----|----|------|---|--------|---|------|------|---|------|----|
| ज  | न  | स्य | न  | य  | न  | स्था | न | ध्वानं | ए | न    | च्छि | न | त्वि | नः |
| पु | नः | पु  | नः | जि | नः | पी   | न | ज्ञा   | न | ध्या | न    | ध | न    | स  |

—पदार्थतत्त्वविचारः, ध्यानं—स्वरूपानुसन्धानमित्यर्थः, ते धनं—सम्पत्, वैभवमिति यावत्, यस्य तादृशः, [पौनञ्ज्ञानध्यान-धनः इति पाठान्तरे तु—पीने—महती, ज्ञानध्याने,—ज्ञानं—तत्तदागमोपदेशात्मको बोधः, ध्यानं—समाधिः ध्येयचिन्तनमिति

यावत्, ताभ्यां घनः,—पूर्णः, इत्यर्थः] इनः,—स्वामी, (“इनः पत्न्यौ  
 नृपार्कयोः” इति मेदिनी ) सः,—प्रसिद्धः, जिनः,—बुद्धः, पुनः  
 पुनः,—वारंवारं, नः,—अस्माकम्, एनः,—पापं, (“एनः पापाप-  
 राधयोः” इत्यमरः ) छिनत्तु—नाशयतु । इदं षोडशदलपद्मबन्ध-  
 चित्रं गोमूत्रिकाबन्धचित्रञ्च यद्यपि “पुनः” “इनः” “स नः” इत्यत्र  
 विसर्गपरो नकार आवश्यकः, “जनस्य” इत्यादौ च नकारो  
 निर्विसर्गपर इति बन्धवैषम्यमापद्यते, तथाऽपि “यमकश्लेषचित्रेषु  
 बवयोर्दलयोर्न भित् । नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय सम्मतौ ॥”  
 इत्याद्युक्तदिशा न तद् दोषायेति सहृदयैर्विभावनौयम् । यद्वा,—  
 “नमस्ते महिमप्रेमनमस्यामतिमहम ।

चामसोम नमत्काम धामभौम समक्षम ॥”



अस्यार्थः,—महिमनि—प्रेमा यस्य, तेन तस्य वा नमस्य  
 प्रणामयोग्य, अमतिमतो दास्यतीति अमतिमहम, चामः,—

एकस्वरचित्रीदाहरणम्,—

गणवरगणवरकरतरचरण ।

परपदशरणगजनपथकथक ! ।

अमदन । गतमद । गजकरयमल !

शममय । जय भुयघनवनदहन ! ॥ ८ ॥

कलामात्रेण चूडासङ्गतः सोमो यस्य ; नमन्—भग्नः कामो यस्मात् ; धाम्ना—तेजसा, भीम—भयानक, समा—सकल-व्युत्थानहेतुसाधारणी, क्षमा—क्षान्तिः यस्य, [ एतानि सम्बोधनविशेषणानि ] ते—तुभ्यं नमः । यद्वा नमस्येति लोट्, तं नमस्य—प्रणामं कुरु । तत्र तु ते तुभ्य नमः,—नमस्करुते कश्चिदिति शेषः । इति सरस्वतीकण्ठाभरणोक्तमुदाहरणमेव निर्विवादविशुद्धत्वेनोपादेयम् ॥ ८ ॥

एकस्वरचित्रं दर्शयति, गणवरेति ।—गणेषु—नरसमूहेषु, वराः,—श्रेष्ठाः, तेषां गणः,—सङ्घः, तस्य वरं—वाञ्छितार्थम्, अतिशयेन कुरुतः इति करतरौ—विशेषेण साधकौ, चरणौ यस्य तत्सम्बुद्धौ, तथोक्त ; चरणोपासकजनानामत्यन्तमभीष्टप्रद इत्यर्थः । परपदं—निर्व्वाणम्, एव शरणम् आश्रयः, तत् गच्छन्ति ये ते परपदशरणगाः, जनाः तेषां पत्न्याः, तस्य कथकः,—कर्त्तव्योपदेष्टेति यावत्, तत्सम्बुद्धौ तथोक्त ; हे अमदन ।—निष्काम । हे गतमद ।—निरहङ्कार । गजस्य इव करयमल करयुग यस्य तत्सम्बुद्धौ हे गजकरयमल ।—महावाहो । इत्यर्थः, हे शममय ।—शान्तिस्वरूप ! भयैः घनानि—निविडानि, पूर्णानि इत्यर्थः, यानि वंनानि—अरण्यानि, ससारा इति भावः, यद्वा भयानि—भीतयः, एव घनवनानि—निविडारण्यानि, तेषां, अथवा भय—भीतिः, तदेव



नावाच्यतकमुदाहरति,—

मूलस्थितिमधः कुर्वन् पात्रैर्जुष्टो गताक्षरैः ।

विटः सेव्यः कुलीनस्य तिष्ठतः पथि कस्य सः ॥ १० ॥

[ विटपदान् इकारमावच्युतक वट इति ]

∴ इकारमात्रस्य परिवर्तनेन अथैवैचित्र्यापादकं स्वरचित्रः मुदाहरति, मूलेति ।—मूलस्थितिं—कुलमर्थ्यादाम्, अधः कुर्वन्—अपनयन्, अनादरयन्नित्यर्थः, कुपथेन गच्छन्निति यावत्, गताक्षरैः,—निरक्षरैः, मूर्खैः इत्यर्थः, पात्रैः,—नटैर्विद्रुषकादिभिरित्यर्थः, जुष्टः,—सेवितः, सः विटः,—धूर्तः, “सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः । वेशोपचारकुशलो, वाग्मीः मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥” इत्युक्तलक्षणः नाटकपात्रविशेषः इत्यर्थः, पथि—सदाचारमार्गं, तिष्ठतः,—तमनुतिष्ठतः, कस्य कुलीनस्य—सत्कुलप्रसूतस्य पुरुषस्य, सेव्यः,—पूज्यः ?—न कस्यापि इत्यर्थः । विटपदात् इकारच्युतौ तु अर्थान्तरं यथा—अधः,—तलदेशे, मूलस्थितिं,—मूलैः,—शिफाभिः, (शिकङ् इति भाषया प्रसिद्धिः) —यद्वा,—मूलानां स्थितिम्—अवस्थानं, कुर्वन् गताक्षरैः,—गतः आ समन्तात् क्षरो नाशः त्रैषां तैः,—यद्वा—गतानि—प्राप्तानि, काले सङ्गतानि इति यावत्, अक्षराणि—अविनश्वराणि, दृढानि इति यावत्, तैस्तथोक्तैः [ अत्र विशेषणविशेष्यभावस्य प्रायिकत्वात् विशेषणसमासः ] पात्रैः,—पतनात् त्रायन्ते इति पात्राणि तैः, जटाभिः इत्यर्थः, [ चत्रादिशब्दवत् क्विबन्तपत्धातुनिष्पन्नपत्शब्दपूर्वकात् “त्रैड् पानने” इत्यस्मात् धातोः डप्रत्ययेन “पत्रम्” इति सिद्धं, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे अणप्रत्ययेन पात्रमिति सिद्धम् ] यद्वा—पात्रैः,—पत्ररित्यर्थः, (“पात्रं सुवादी पत्रे च” इति विश्व.) जुष्टः,—सेवितः, आकीर्णः इति यावत्, सः,—प्रसिद्धः,

विन्दुच्युतकमुदाहरति,—

धर्माधर्मविदः साधुपक्षपातसमुद्यताः ।

गुरूणां वचने निष्ठा नरके यान्ति दुःखिताम् ॥ ११ ॥

वटः, कुलीनस्य—कौ—पृथिव्यां, लीनस्य, अध्वगमनश्रमात्  
अवसादं गतस्य इत्यर्थः, अत एव, तिष्ठतः,—स्थितिं कुर्वतः,  
विश्रामेच्छयोपासीनस्येति यावत्, पथिकस्य सेव्यः,—आश्रय-  
णीय इत्यर्थः । स्फुटं चैवं अक्षरच्युतौ द्वितीयार्थोपपत्तेः चमत्-  
कारित्वात् मात्राच्युतकचित्रमिदम् ॥ १० ॥

मात्राच्युताविव विन्दुच्युतावपि चमत्कारविशेष उपपद्यते  
इति द्योतयन्, तन्मूलं चित्रमुदाहरति, धर्मोति ।—धर्मो—  
पुण्यानुष्ठाने, अधर्मवित्—अधर्मबुद्धिः, येषां तथोक्ताः, [अध-  
र्मस्य वित् बुद्धिः, विद्यते—ज्ञायते इति वित् । सम्पदादित्वात्  
भावे क्विप् ] यद्वा,—धर्ममेव अधर्मं विदन्ति—जानन्ति इति  
तथोक्ताः, साधूनां—सज्जनानां, पक्षस्य—सहायस्य, मतस्य वा,  
पाते—पातने, समुद्यताः—साग्रहाः, सज्जनावमानिनः इत्यर्थः,  
गुरूणां—पूज्यानां, वचने—प्रतारणे, निष्ठाः,—नितराम् आसक्ताः  
इत्यर्थः, जनाः नरके दुःखितां—दुःखभागित्व, यान्ति—प्राप्नु-  
वन्ति । अत्र “वचने” इत्यस्य नकारजातानुस्वारच्युतौ हे नर ।  
—मानव ! धर्माधर्मविदः धर्मश्च अधर्मश्च इति तौ विदन्ति—  
जानन्ति, इति तथोक्ताः, कः धर्मः कश्च अधर्मः इति ज्ञानवन्त  
इति भावः, अत एव, साधुपक्षपातसमुद्यताः,—साधूनां—सज्ज-  
नानां पक्षः,—सिद्धान्तः, तत्र पातः,—अभिनिवेशः, तेन समु-  
द्यताः, साधुजनमतानुरागवन्तः इत्यर्थः, यद्वा,—साधूनां पक्षः,—  
समाजः, तस्य पातं—रक्षण, [ पातेः भावे क्तः ] तत्र समुद्यताः,  
—सज्जनानां साभिनिवेशं रक्षितारः इति, सत्साहाय्ये सयत्ना  
इति भावः, गुरूणां—पित्रादीना, वचने—आज्ञापालने, निष्ठाः,

एकव्यञ्जनचिन्मदाहरति,—

ककाकुकाङ्केकाङ्केकिकोकैककुः ककः ।

कुकुकौकःकाककाककर्काकुकुकाङ्कुः ॥ १२ ॥

—स्थिताः इत्यर्थः, के जनाः दुःखितां यान्ति ?—दुःखिनो भवन्ति ? न के अपि इत्यर्थः । अत्र अनुस्वारच्युतिमात्रेण विलक्षणस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ऋटिति सहृदयानां हृदयमधिरोहतौति विन्दुच्युतेः चमत्कारित्वात् चित्रमिदम् ॥ ११ ॥

एकव्यञ्जनचित्रं दर्शयति, ककेति ।—समुद्रवर्णनम् इदम् ।

कं—सुखम्, अस्यामस्तीति, का, सुखजनिका इत्यर्थः [अर्श-आदि-त्वात् अच्प्रत्ययः टाप् च ] तादृशी काकुः,—ध्वनिविशेषः, येषां ते, ककाकवः, ये कङ्काः,—जलपक्षिभेदाः, वकविशेषाः इत्यर्थः, तथा केकाङ्काः,—केका—कूजिताविशेषः, अङ्कः,—चिह्नं येषां तथोक्ताः, केकारवचिह्निता इत्यर्थः, सततं केकारवं कुर्वन्तः इति भावः, ये केकिनः,—मयूराः, कोकाः,—चक्रवाकाः च, तेषाम् एका,—अद्वितीया, कुः,—स्थानं, निलयः इत्यर्थः, तथा कवः,—कुक्षिताः, कव',—कुक्षिताः, इति कुकवः,—कुक्षित-कुक्षिता, अतिकुक्षिताः इत्यर्थं, यद्वा,—कौ—पृथिव्यां, कवः,—कुक्षिताः कुकवः, क—जलम्, ओकः,—स्थानं, येषां ते कौकसः, जलवासिनः, तथा काकाः—एव काककाः, [ स्वार्थे कन्प्रत्ययः ] तान् आकयन्ति—प्रीणयन्ति, इति ते—कुकुकौकाःकाक-काककाः, तेषा ऋच,—ऋग्वेदीयमन्त्रविशेषाः, इति भावः, तत्तन्मन्त्रैः काकेभ्यः बलिः उपह्रियते इति तेषा मन्त्राणां काक-प्रीणनत्वम् इति भावः, ताः एव काकवः,—ध्वनिविशेषाः, तान् कौकति—उच्चरति इति कुकुकौकःकाककाककर्काकुकुकः, [ कुकिघातोः कप्रत्ययः ] तथाभूतः कः,—ब्रह्मा, अङ्कं—उत्सङ्के, यस्य तथोक्तः, कुकुकौकःकाककाककर्काकुकुकाङ्कः,—विष्णुः,



अचरच्युतकमुदाहरति,—

कुर्वन् दिवाकराश्लेषं दधच्चरणडम्बरम् ।

देव । यौष्माकसेनायाः करेणुः प्रसरत्यसौ ॥ १३ ॥

तस्य कुः—स्थानम्, आवासः इत्यर्थः, ककः,—केन—वायुना,  
सह कं—जल, यत्र तथोक्तः ककः,—वारिधिः इत्यर्थः, वर्त्तते इति,  
शेषः । अत्र एकाक्षरत्वेन कवेरलौकिकसङ्कलनाशक्तिं प्रकट-  
यन् पाठकस्य मनसि विस्मयमुत्पादयतीति चमत्कारित्वमिति  
एकव्यञ्जनचित्रमिदम् ॥ १२ ॥

ककाररूपैकव्यञ्जनच्युतिमूलं चित्रमुदाहरति, कुर्वन्निति ।  
—राजसेनावर्णनमिदम् । हे देव !—स्वामिन्, युष्माकम् इयम्—  
यौष्माकी, या सेना तस्याः [ सम्बोधनपदयुष्मत्पदयोः तुल्यवचन-  
कत्वनियमे सत्यपि, अत्र “देव” इत्येकवचनान्तसम्बोधन-  
प्रदात् पर “यौष्माकसेनायाः” इति बहुवचने युष्मत्प्रयोगः उक्त-  
नियमस्य प्रायिकत्वेन कथञ्चित् समर्थनीयः ] असौ करेणुः,—  
हस्ती, दिवा—आकाशेन सह, कराश्लेषं—करस्य—शुण्डाद्रण्डस्य,  
आश्लेषं—सङ्घर्षं कुर्वन्, तथा रणस्य—सङ्ग्रामस्य,—डम्बर—  
निभंरन्यासं, दधत्—धारयन् च ; यद्वा,—चरणाना—पादानर,  
डम्बर—समरं, सशब्द न्यासञ्च दधत्, प्रसरति—चलति । अत्र  
“करेणुः” इत्यस्य ककारच्युतौ अर्थान्तरोत्पत्तिर्यथा,—हे देव !  
—राजन्, यौष्माकसेनायाः,—भवदीयसेनायाः, रेणुः,—धूलिः,  
दिवाकरस्य—सूर्यस्य, आश्लेष—सस्पर्शं, कुर्वन्, रणे—युद्धे,  
डम्बरं—भयङ्करत्व, दधत्—धारयन् च, यद्वा,—चरणस्य—  
सञ्चारस्य, डम्बरम्—आडम्बर, दधत्—पुष्पान्, [ “डु धाञ्  
धारणपोषणयोः” इत्यस्य शब्दप्रत्यये रूपमिदम् ] प्रसरति—  
व्याप्नोति । एव ककारच्युतौ वाक्यार्थस्य अन्यथाप्रतिपत्तिरिति  
प्रमत्कारित्वात् एकव्यञ्जनच्युतकचित्रमिदम् ॥ १३ ॥

• वक्रोक्तिमाह,—

प्रस्तुतादपरं वाच्यमुपादायोत्तरप्रदः ।

भङ्गश्लेषमुखिणाह यत्र वक्रोक्तिरेव सा ॥१४॥

• सभङ्गश्लेषवक्रोक्तिमुदाहरणम्,—

नाथ । मयूरो नृत्यति

तुरगाननवक्षसः कुतो नृत्यम् ? ।

ननु कथयामि कलापिन-

मिह सुखलापी प्रिये । कोऽस्ति ? ॥ १५ ॥

• एवं सप्रपञ्चं चित्रकाव्यमुदाहृत्य वक्रोक्तिं लक्षयति, प्रस्तु-  
तादिति ।—यत्र उत्तरप्रदः,—उत्तरदाता, प्रस्तुतात्—प्रस्ता-  
वितात् अर्थात्, भङ्गश्लेषमुखेण—सभङ्गश्लेषाश्रयेण, अपरम्—  
अन्यं, वाच्यम्—अर्थम्, उपादाय—गृहीत्वा, आश्रित्य इत्यर्थः,  
आह—प्रत्युत्तरं ब्रवीति, सा एव वक्रोक्तिः कथ्यते इति  
शेषः ॥ १४ ॥

सभङ्गश्लेषमूलां वक्रोक्तिमुदाहरति, नाथेति ।—हे नाथ !—  
स्वामिन् !, मयूरः नृत्यति ( इति नायिकोक्तिः ) तुरगाननः,—  
किन्नरः, तस्य वक्षसः नृत्यं—नर्तनं, कुतः ? असम्भवम् एतत्  
इत्यर्थः, (“स्यात् किन्नरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः” इत्यभिधानात्  
“मयुः तुरङ्गवदनः तस्य उरः वक्षःस्थलं कथं नृत्यति ?” इति  
नायिका प्रति नायकस्य वक्रोक्तिः ) । ननु—भोः प्रिये । कला-  
पिनं—शिखिन, कथयामि—शिखी नृत्यति इति ब्रवीमि इत्यर्थः,  
( इति नायिकोक्तिः ) । हे प्रिये ।—प्रणयिनि, इह—अस्मिन्  
देशे, कः सुख—मधुरं, लपति—भाषते, इति सुखलापी—  
कलापी, इत्यर्थः अस्ति ? नैव अस्ति इत्यर्थः ( इति नायकस्यो-  
त्तरम् ) । अत्र कं सुखं लपति इति श्लेषेण अपरार्थाश्रयणेन

अभङ्गश्लेषवक्रोक्तिमुदाहरणम्:—

भर्तुः पार्व्वति । नाम कीर्त्तय न चेत् त्वां ताडयिष्याम्यहं  
क्रीडाब्जेन, शिवेति, सत्यमनघे । किं ते शृगालः पतिः ? ।

नायिकां प्रति नायकस्य वक्रोक्तिः । अयं भावः,—“मयूरो  
नृत्यति” इत्यत्र नायिकया मयूरपदवाच्यपक्षिविशेषरूपप्रस्तुतेऽर्थे  
प्रयुक्तस्य “मयूर” इति पदस्य, उत्तरप्रदः नायकश्च तद्गुहाऽपि  
परिहासरसमधिजिगमिषुः सन् “तुरङ्गवदनो मयुः” इत्य-  
मरोक्त्या घोटकमुखकिन्नररूपेऽप्रस्तुतेऽर्थं शक्तिं स्वीकुर्वन् उरः-  
पदस्य च वक्रोरूपमर्थं गृह्णन् “मयोः,—तुरङ्गवदनस्य, उरः,—  
वक्रःस्थलं, नृत्यति” इत्यर्थपरतया तद्वाक्यं सङ्गमयन् तुरगी-  
त्यादिवाक्यम् अभिहितवान्, महाक्यतात्पर्यमनेन न समधि-  
गतमिति कृत्वा “मयूरशब्देन कलापिनो नामग्रहणे मदीयं  
तात्पर्यम्” इति ज्ञापयितुं “कलापिनं कथयामि” इति कलाप-  
विशिष्टपक्षिविशेषरूपेऽर्थे नायिकया प्रयुक्तं, नायकेन तु तदपि  
परिहासपरतया सञ्जिगमिषुणा कलापीति पदस्य ‘क’  
इत्यस्य सुखे ‘लापी’ इत्यस्य च भाषी इत्यस्मिन्नर्थे शक्तिमव-  
गच्छता “सुखलापी कोऽस्ति” इत्युत्तरितम् । स्फुटञ्चैवं सभङ्ग-  
श्लेषमूलेय वक्रोक्तिरिति । नायिका च सुग्धा, नायकः धीर-  
ललितश्चेति ॥ १५ ॥

अभङ्गश्लेषमूलां वक्रोक्तिमुदाहरति, भर्तुरिति ।—है पार्व्वति!  
—गौरि ! त्व भर्तुः,—स्वामिनः, नाम - संज्ञां, कीर्त्तय—ब्रूहि,  
न चेत्—भर्तृनाम न ब्रवीषि यदि इत्यर्थः, तदा अहं त्वां  
क्रीडाब्जेन—लीलापद्मेन, ताडयिष्यामि—प्रहरिष्यामि । ( इति  
पार्व्वतीं प्रति विजयोक्तिः ) । शिवेति—“शिव” इति, मत्पत्युः  
नाम शिव इत्यर्थः, [ अत्र विसर्जनौयत्नोपेऽपि सन्धिः, कवीनां  
निरङ्कुशत्वात् ] ( इति पार्व्वत्युक्तिः ) । अत्र शिवेति गौर्या

नो स्थाणुः, किमु कीलको, न हि पशुस्वामी, नु गोप्ता गवां,  
दोलाखेलनकर्मणीति विजयागौर्योर्गिरः पान्तु वः ॥ १६ ॥

प्रत्युक्ता विजया “शिव” इति, “शिवा इति” इति च पदच्छेदे  
“शिवा गौरीफेरवयोः” इत्यमरोक्त्यनुसारेण शिवाशब्दस्य च  
स्त्रीप्रत्ययान्तत्वेन शृगालीवाचकत्वे, स्त्रीप्रत्ययान्ततानिरासेन च  
शृगालवाचकत्वं कल्पयित्वा पुनराह, सत्यम् इत्यादि ।—हे  
अनघे ।—निष्पापे । यथार्थवादिनीत्यर्थः, ते—तव, पतिः,  
—स्वामी, शृगालः,—जम्बुकः इति सत्य—निश्चितं, किम् ?  
( इयं विजयायाः गौरीं प्रत्युक्तिः ) । एवं प्रत्युक्ता  
पार्वती पुनः स्वप्रियनामाभिधत्ते, नो स्थाणुरिति ।—नो—  
शृगालः मे पतिरिति यदाशङ्कसे तन्नैत्यर्थः, किन्तु स्थाणुः मे  
पतिः इति शेषः, ( इति गौर्याः पुनरुक्तिः ) । स्थाणुशब्दस्य  
“स्थाणुः कीले हरे पुमान्” इति मेदिन्युक्त्या कीलकवाचित्वा-  
श्रयेण विजया पुनराह, किमु कीलकः इति ।—तव पतिः  
कीलकः किमु—शङ्कः किम् ? ( इति विजयोक्तिः ) । पार्वती  
पुनः आह, न हि—कीलकः मम स्वामी नैव इत्यर्थः,—किन्तु  
पशुस्वामी—पशुपतिः, मम स्वामी इति शेषः । ( इति  
गौर्याः पुनरुक्तिः ) । अत्र पशुस्वामीतिपदस्यापि योगशक्त्या-  
ऽथान्तरमवलम्ब्य विजयाऽऽह, न्विति ।—नु—ननु तर्हि, गवां  
—पशुविशेषाणां, गोप्ता—रक्षिता, गोपः इति यावत्, तव  
पतिः इति शेषः, ( इति विजयोक्तिः ) । दोलाया खेलन—क्रौड-  
नम् एव कर्म—व्यापारः तस्मिन्, विजयागौर्याः,—पार्वत्याः  
तत्सख्याश्च, इति—एवमकारा, गिरः,—वाचं, उक्तिप्रत्युक्ति-  
रूपाः इति यावत्, वः,—युष्मान्, पान्तु—रक्षन्तु । इदं  
तत्त्वम्,—शिवादीना पदानामभङ्गानामेव अर्थान्तरप्रतिपाद-

अनुप्रासमाह,—

तुल्यश्रुत्यचरावृत्तिरनुप्रासः स्फुरद्गुणः ।

अतत्पदः स्याच्छेकानां लाटानां तत्पदश्च सः ॥१७॥

कतया विजयायाः पार्व्वतीं प्रति वक्रोक्तिरियम् अभङ्गश्लेष-  
मूला । इदञ्च प्राचां मतेन, नव्यानान्तु मतेन काकुमूलाऽपीति,  
अत एव तथाऽऽहुः साहित्यदर्पणकाराः,—“अन्यस्यान्यार्थकं  
वाक्यमन्यथा योजयेद् यृदि । अन्यः श्लेषेण काक्त्वा वा सा  
वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥” इति ; उदाहरन्ति च,—“काले,कीकिल-  
वाचाले सहकारमनोहरे । कृतागसः परित्यागात् तस्याश्चेतो  
न दूयते ॥” इति । अत्र हि नञा काकुः ॥ १६ ॥

अनुप्रासं लक्षयति, तुल्येति ।—तुल्या—समानाकारा,  
श्रुतिः,—श्रवणं, येषां तानि ( तादृशानि ) यानि अक्षराणि—  
वर्णाः तेषाम् आवृत्तिः,—पुनःपुनः आवर्त्तनम्, उच्चारणम् इत्यर्थः,  
अनुप्रासः कथ्यते इति शेषः । स च स्फुरन्तः,—स्पष्टं भासमानाः,  
गुणाः,—औदार्यादयः यत्र तथाभूतः, औदार्यादिभिर्गुणै रम-  
णीय इत्यर्थः, भवति इति शेषः । स च द्विधा,—छेकानुप्रासः  
लाटानुप्रासश्चेत्याह, अतत्पद इति ।—छेकानां—विदग्धानां,  
चतुराणामिति यावत्, ( “छेकस्त्रिषु विदग्धेषु” इति रभसः )  
प्रयोज्यः इति शेषः, अतत्पदः,—न तानि एव पदानि यत्र सः  
इति तथोक्तः, भिन्नपदः अनुप्रास इत्यर्थः । लाटाना—लाट-  
देशीयजनाना, प्रयोज्य इति शेषः, तत्पदः,—पूर्वोक्तपदाश्रितः,  
अभिन्नपदोऽनुप्रास इत्यर्थः ; तथा च भिन्नपदोऽनुप्रासः छेकानु-  
प्रासः, अभिन्नपदः पुनरनुप्रासा लाटानुप्रास इति द्विविधोऽनु-  
प्रास इति निर्गलितोऽर्थः ॥ १७ ॥

—छेकानुप्रासोदाहरणम्,—

अलं कलङ्कशृङ्गार ! करप्रसरहेलया ।

चन्द्र ! चण्डीशनिर्मात्यमसि न स्पर्शमर्हसि ॥ १८ ॥

—लाटानुप्रासोदाहरणानि,—

रणे रणविदो हत्वा दानवान् दानवद्विषा ।

नीतिनिष्ठेन भूपाल । भूरियं भूस्वया कृता ॥ १९ ॥

भिन्नपदगं छेकानुप्रासम् उदाहरति, अलमिति ।—कस्या-  
श्चित् विरहिण्याः उक्तिः इयम् । कलङ्कः,—अपवादः, शृङ्गारेण  
—सुरतेन यस्य तत्सम्बुद्धौ, गुरुपत्नौरमणेनेत्यर्थः, यद्वा,—कलङ्केन  
—अपवादेन, उपलक्षित इत्यर्थः, शृङ्गारः,—सुरतं, गुरुपत्नी-  
गमनमिति यावत्, (“शृङ्गारः सुरते नाद्यरसे च” इति मेदिनी)  
यस्य तत्सम्बुद्धौ, हे कलङ्कशृङ्गार ! चन्द्र ! कारणा—किर-  
णाना, प्रसरः,—विस्तारः, तस्य हेला—क्रौडा, यद्वा,—कर-  
प्रसर एव हेला, तथा, किरणविसरणविलासेनेत्यर्थः, (“हेला  
स्त्रियामवज्ञाया विलासे वरयोषिताम्” इति मेदिनी ) अलं—  
न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, किरणप्रसारणं मा कार्षीः इति  
यावत् । कुत एतदित्याह, त्व चण्डीशस्य—पार्वतोपते,  
निर्मात्यम्—उच्छिष्ट, भुक्तशेषः इति यावत्, असि—भवसि,  
अतः स्पर्शं न अर्हसि—स्पर्शयोग्यः न भवसि इत्यर्थः, “अग्राह्य  
शिवनिर्मात्यम्” इति अनुशासनात् इति भावः । अत्र प्रथमार्द्धे  
ककारस्य लकारस्य रेफस्य च पुनःपुनः आवृत्तिः, द्वितीये चका-  
रस्य शकारस्य सकारस्य च आवृत्तिः । एषा च वर्णमात्रावृत्तिः  
भिन्नपदगेति ॥ १८ ॥

अभिन्नपदानिवन्धनं लाटानुप्रासम् उदाहरति, रणे इति ।—  
हे भूपाल । पृथिवीभारहरणात् जगत्पालक कृष्ण । इत्यर्थः,  
दानवद्विषा—दानवान्—दनुजान् द्वेष्टि इति दानवद्विट् तेन,

त्वं प्रिया चेच्चकोराक्षि । स्वर्गलोकसुखेन किम् ? ।

त्वं प्रिया यदि न स्या मे स्वर्गलोकसुखेन किम् ? ॥ २० ॥

एकत्र पात्रे स्वकलत्रवत्त्वं

नेत्रामृतं विस्वितमीक्षमाणः ।

दानवारिणा इत्यर्थः, नीतिनिष्ठेन—नीतौ—नये, निष्ठा—स्थिति-  
र्यस्य तेन, राजनीतिनिपुणेनेत्यर्थः, त्वया रणे—सङ्ग्रामे, रण-  
विदः,—रणपण्डितान्, दानवान् हत्वा—विनाश्य, इय—पुरो  
दृश्यमाना, भूः,—पृथ्वी, भूः,—रत्नादौनां प्रसविनीति यावत्,  
कृता—विहिता । अत्र रण-दानव-भू-पदानाम् आहृत्तिः इति  
अभिन्नपदाहृत्तिमूलोऽयमनुप्रास इति भावः ॥ १९ ॥

पादाहृत्या लाटानुप्रासम् उदाहरति, त्वमिति ।—हे  
चकोराक्षि !—चकोरनेत्रे ! त्व मे—मम, प्रिया—प्रणयिनी, चेत्  
—यदि, स्याः,—भवेः, तदा स्वर्गलोके—त्रदिवि, यत् सुखम्—  
अमृतपानोर्वशादिसम्भोगज आनन्दः, तेन किम् ?—न किमपि  
प्रयोजनम् इत्यर्थः, स्वर्गीयसुखस्य त्वत्सङ्गसुखापेक्षया तुच्छत्वा-  
दिति भावः ; यदि त्वं मे प्रिया न स्याः—न भवेः, तदा स्वर्ग-  
लोकसुखेन किम् ? न किमपि प्रयोजनम् इत्यर्थः, त्वयि मय्य-  
करुणायां त्वत्सङ्गसुखविरहितस्य मम स्वर्गसुखमपि अकिञ्चित्-  
करम् इति भावः । अत्र “स्वर्गलोकसुखेन किम्” इति पादस्य  
द्विराहृत्तिः । “त्वं यदा दयिता कान्ते । स्वर्गलोकेन किं पुनः ।  
त्व यदाऽदयिता कान्ते । स्वर्गलोकेन किं पुनः ॥” इति पाठपरि-  
हृत्तावपि श्लोकार्हाहृत्तिः ॥ २० ॥

बोधदाढ्याय पुनस्तमेव क्वेवानुप्रासभेदमुदाहरति, एका-  
त्रेति ।—कश्चित्—एकः, यदुभूमिपालः,—यदुराजः, स्वस्य—  
आत्मनः, कलत्रस्य—कान्तायाः, वत्न—वदनं, नेत्रस्य—नय-

पश्चात् पपीं सौधुरस पुरस्तात्

ममादकश्चिद् यदुभूमिपालः ॥ २१ ॥

यमकसाह,—

स्यात् पादपदवर्णानामाह्वतिः संयुताऽयुता ।

यमकं भिन्नवाच्यानामादिसध्यान्तगोचरम् ॥२२॥

नस्य, अस्युतम् इव सुधाभूतम्, इति नेत्रास्युत, नयनासेचनकम् इति भावः, एकत्र—एकस्मिन्, पात्रे—भाजने, पानपात्रे इत्यर्थः, विस्मितं—प्रतिफलितम्, ईक्षमाणः,—पश्यन्, पुरस्तात्—पानात् पूर्वम्, एव ममाद—उल्लास, पश्चात्—प्रियामुख-प्रतिविम्बदर्शनोन्मादात् पर, सौधुरस—मद्यरस, पपी—पीत-वान् । अत्र पूर्वार्द्धे एकारस्य त्रकारस्य ककारस्य च, द्वितीयेऽर्द्धे सकारस्य पकारस्य मकारस्य च आह्वतिः । अत्रापि पदाह्वत्य-भावात् भिन्नपदगताह्वतिनिबन्धनोऽय क्केकानुप्रासः ॥ २१ ॥

यमक लक्षयति, स्यादिति ।—भिन्नवाच्याना—भिन्न,—पृथग्भूत', वाच्यः,—अभिधेयोऽर्थो येषा तादृशाना पृथगभिधेया-नामित्यर्थः, पादपदवर्णाना—पादः,—पद्यस्य चतुर्थी भागः, पदं—विभक्त्यन्तः शब्द, वर्णा',—अक्षराणि, चेति तेषा संयुता—मिलिता, स्वसदृशेन पदान्तरेणैव, कृतानुषङ्गेति यावत्, अयुता—अमिलिता, क्वचित् स्वसदृशेन पदान्तरेण विच्छिन्ना इत्यर्थ, आह्वतिः,—पुनरुक्ति', यमक स्यात्, तच्च आदिसध्यान्त-गोचरम्—आदिः,—आद्यपादः, मध्यौ,—द्वितीयद्वितीयपादौ, अन्त',—अन्त्यपाद', च तुर्यपाद इति यावत्, चेति ते गोचराः,—विषया यस्य तथोक्त भवति, प्रथमपादगतं द्वितीयपादगतं द्वितीयपादगतं चतुर्थपादगतञ्च यमकं स्यादिति भावः । तदेवं पाद पद-वर्णाना त्रयाणाम् आह्वतिरूप यमकं त्रिविधम्, आह्व-



यमकीदाहरणानि,—

दयां चक्रे दयाञ्चक्रे ।

सतां तस्मात् भवान् वित्तम् ॥ २३ ॥

यशस्ते समुद्रान् सदारोरगारिः ।

सदारोरगारिः समानाङ्गकान्तिः ॥ २४ ॥

तेश्च संयुतासंयुतत्वभेदेन द्वैविध्यात् यमकस्य षड्विधत्वं, तस्य च षड्विधस्य यमकस्य आद्यद्वितीयतृतीयचतुर्थपादगोचरत्वेन चातुर्विध्यात् चतुर्विंशतिर्भेदाः ज्ञेयाः । अस्य पृथगर्थपादाद्यावृत्तिरूपतया, लाटानुप्रासस्य च अपृथगर्थपादाद्यावृत्तिरूपतया उभयोः भेदः ॥ २२ ॥

प्रथमपादस्य संयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति, दयेति ।— भवान् दयां—कृपां, चक्रे—कृतवान्, तस्मात्—ततः हेतोः, सतां—साधूना, [ “विवक्षावशात् कारकाणि भवन्ति” इति न्यायात् अत्र सम्प्रदानस्य सम्बन्धविवक्षया षष्ठी ] वित्तं—धनं, दयाञ्चक्रे—दत्तवान् । अत्र “दया चक्रे” इति चतुर्वर्णात्मकस्य प्रथमपादस्य पदान्तरैरव्यवहिततया द्वितीयपादे समानरूपेणावृत्तिः, अतः संयुतावृत्तिरूपं पादयमकमिदम् । अत्र चतुरक्षरपादस्य प्रतिष्ठावृत्तस्य वर्णप्रस्तारे कृते द्वितीयो भेदः ॥ २३ ॥

सयुतावृत्तिमूलं मध्यपादयमकमुदाहरति, यश इति ।— कस्यचित् नृपतेर्दिगन्तविस्तृतस्य यशसः वर्णनमिदम् ।—उरगारिः,—उरसा—वक्षसा गच्छन्तीति उरगाः,—सर्पाः, तेषाम् अरिः,—शत्रुः, गरुडः इत्यर्थः, तस्य समाना—सदृशी अङ्गकान्तिः,—शरोरप्रभा, यस्य तथाभूतस्य सुवर्णवर्णस्येत्यर्थः, तथा सदा—निरन्तरम्, आरोरं—दारिद्र्यं, गच्छन्ति ये ते सदारोरगाः तादृशाः अरयः,—शत्रवः, यस्य तथाविधस्य ते—तव, सत्—वर्तमानम्, उक्कृष्टं वा यशः—कीर्तिः, समुद्रान्—वारिधौ,

द्विषामुद्धतानां निहंसि त्वमिन्द्र । ।

मुदं भो धराणामुद्धमो धराणाम् ॥ २५ ॥

विभातिरामा परमारणस्य

विभाति रामा परमा रणस्य ।

सदैव तेजोर्जितराजमान ।

सदैवतेजोर्जितराजमान । ॥ २६ ॥

आर—गतम् इत्यर्थः, [ “ऋ गतौ” इत्यस्य धातो रूपम् ] । अत्र तृतीयपादस्य द्वितीयपादरूपेण आवृत्तिः । असौ च स्वसमान-पदान्तररूपैवेति लक्षणसमन्वयः । अत्र सोमराजीनामच्छन्दः, “द्विया सोमराजी” इति छन्दोमञ्जरीकारोक्तेः ॥ २४ ॥

संयुतावृत्तिमूलं शेषार्द्धयमकमुदाहरति, द्विषामिति ।—भो, इन्द्र । त्वम् उद्धमो धराणाम्—उद्धताः,—शृङ्गेषु समुदिताः, अद्धमो धराः,—मेघाः, येषु तेषाम्, अभ्रंलिहशिखराणामित्यर्थः, उद्धतानां—पक्षशालित्वेन उद्धमाना, अत एव द्विषां—शत्रूणां, स्वपक्षविस्तारेण जगदुपद्रवकारित्वात् इति भावः, धराणा—धरन्ति पृथिवीमिति धरा, तेषा, पर्वतानामित्यर्थः, मुद—हर्षं, निहंसि—नाशयसि, पक्षच्छेदनात् इति भावः । अत्र चतुर्थपादस्य तृतीयपादसमानरूपेण आवृत्तिः । अत्रापि सोमराजीच्छन्दः ॥ २५ ॥

एकेनैव पद्येनाद्यमध्यपादयमकं मध्यान्तपादयमकञ्च संयुतावृत्तिमूलं दर्शयति, विभातीति ।—हे अजोर्जितराजमान ।—अजः,—विष्णुः, तस्य इव ऊर्जितं—बलं, तेन राजते इति राजमानः,—दीप्यमानः तत्सम्बुद्धौ, यद्वा—“अजोर्जित” इति “राजमान” इति च पृथगामन्त्रणपदद्वयं, तथा च,—अजस्य—विष्णोः, ऊर्जित—बलमिव ऊर्जितं यस्य तत्सम्बुद्धौ, तथा हे राजमान !—शोभमान ! तथा सदैव तेजोर्जितराजमान !—

सारं गवयसान्निध्यराजि काननमग्रतः ।

सारङ्गवयसां निध्यदारुणं शिखरे गिरेः ॥ २७ ॥

सदा—सर्वदा, एव तेजसा अर्जितः,—लब्धः, राजसु—नृपति-  
समाजि, मानः,—सम्मानः, येन तथोक्त । यद्वा,—दैवेन—  
भाग्येन (“दैव दिष्टं भागधेयम्” इत्यमरः) सह वर्तते इति सदैवं  
यत् तेजः,—प्रतापः, तेन अर्जितः राजसु मान. येन तथाभूतः  
तत्सम्बुद्धौ तथोक्त । ( अस्मिन्पक्षे एवकारस्य पुनरुक्तत्वदोषो न  
स्यात् ) परमारणस्य—शत्रुघातिनः, ते—तव, रणस्य—सङ्घा-  
मस्य, परमा—महती, उत्कृष्टा इत्यर्थः, रामा—मनोहारिणी,  
अतिरामा—अतिक्रान्तः,—अतिशयितः, रामः,—दाशरथिः,  
परशुरामः वा यया तादृशी, विभा—दीप्तिः, सदा,—सर्वदा  
एव, विभाति—राजते । अत्र प्रथमपादस्य द्वितीये, तृतीय-  
पादस्य—चतुर्थे पदान्तरैरव्यवहिता आवृत्तिः स्वसमानवर्ण-  
घटिता ॥ २६ ॥

उक्तोदाहरणेषु संयुतावृत्तिमूलयमकमुदाहृत्य इदानीम्  
असंयुतावृत्तिमूल प्रथममध्यपादयमकमुदाहरति, सारमिति ।  
—गिरेः,—पर्वतस्य, अग्रतः,—अग्रवर्तिनि, शिखरे—शृङ्गे,  
सारम्—उत्कृष्टं, रम्यमित्यर्थः, गवयसान्निध्यराजि—गवयाना  
—गासदृशमृगविशेषाणा, सान्निध्येन—सन्निधानेन, राजते—  
शाभते इति तथोक्त, सारङ्गाणा—मृगभेदाना, वयसा—पक्षि-  
णाञ्च, निधि—आश्रयभूतम्, अदारुणम्—अभयङ्कर, शान्तिप्रद-  
मिति यावत्, कानन—वनं, वर्तते इति शेषः । अत्र “सारं  
गवयसान्निध्य” इत्यस्य प्रथमपादस्य “राजि काननमग्रतः” इत्य-  
नेन द्वितीयपादेन विच्छेदिता आवृत्तिः इति असंयुतावृत्ति-  
मूलम् आदिदृतीयपादगतं यमकम् ॥ २७ ॥

आसन्नदेवां न रराज राजि-  
रुच्चैस्तटानामियमत्र नाद्रौ ।  
क्रीडाकृतो यत्र दिगन्तनागा  
आसन् नदे वानरराजराजिः ॥ २८ ॥

अमरनगरस्मेराक्षीणां प्रपञ्चयति स्फुरत्-  
सुरतरुचये कुर्वाणाना बलक्षम ! रहसम् ।  
इह सह सुरैरायान्तीनां नरेश ! नगीऽन्वहं  
सुरतरुचये कुर्वाणानां बलक्षमरं हसम् ॥ २९ ॥

आद्यन्तपादगतमसयुतावृत्तिमूलं, यमकमुदाहरति, आस-  
न्नेति ।—अत्र—अस्मिन्, अद्रौ—पर्वते, आसन्नदेवा—आमन्नाः,  
—सन्निहिताः, देवाः,—इन्द्रादयः, यस्याः तथोक्ता, वानरराज-  
राजिः,—वानराणां राजान इति वानरराजाः, तेषां राजिः,—  
समूहः, यत्र तद्याभूता, इयं—पुरतो दृश्यमाना, उच्चैस्तटानाम्  
—उन्नततीरभागाणां, राजिः,—श्रेणी, न रराज—न शुशुभे, इति  
न, अपि तु रराज एव इत्यर्थः । यत्र—यस्या उन्नततटराजौ, नदे  
—तटसमीपवर्तिनि जलराशिविशेषे, दिगन्तनागा,—दिग्गजाः  
—क्रीडाकृतः,—क्रीडाकारिणः, जलकेलिनिरताः इत्यर्थः,  
आसन् । अत्र आद्यन्तपादाऽऽवृत्तिः, असौ च द्वितीयतृतीय-  
पादाभ्यां व्यवहितेत्यसयुता, अतः यमकमपि तथाभूतम् । इन्द्र-  
वज्रा वृत्तम् ॥ २८ ॥

द्वितीयचतुर्थपादगतमसयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति,  
अमरेति ।—हे बलक्षम ! पराक्रमसमर्थ । यद्वा—बलः,—बल-  
भद्रः, तस्यैव क्षमा—तितिच्चा यस्य तत्सम्बुद्धौ तथोक्त । नरेश  
—राजन् । स्फुरन्तः,—राजन्तः, सुरतरुणां—कल्पवृक्षाणां,  
चयाः,—समूहाः, यत्र तादृशे, विराजमानदेवपादपसमूहे  
इत्यर्थः, इह—अस्मिन्, नगी—पर्वते, वाणानां—तदाख्यतरुणां,

रम्भाऽऽरामा कुरवक ! कर्मला-

ऽऽरम्भा रामा कुरवककमला ।

रम्भारामाऽकुरवककमला-

ऽऽरम्भाऽऽरामाऽकुरवककमला ॥ ३० ॥

कुः,—भूमिः, अन्वहं—प्रतिदिनं, सुरतरुचये—सुरताभि-  
लाषाय, सुरैः,—देवैः, सह आयान्तीनाम्—आगच्छन्तीनाम्,  
अरम्—अत्यर्थं, बलच्चं—धवलं, ( “सित श्वेतं बलच्चं चामलं  
धवलमर्जुनम्” इति विश्वः ; हास्यस्य धवलता कविसमयसिद्धा,  
अत एवोक्तं दर्पणकृता,—“धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्याः”  
इति ) हस—हास्य, कुर्वाणानां—विदधतीनाम्, अमरनगर-  
क्षेराक्षीणां—सुराङ्गनानाम् इत्यर्थः, रंहसम्—आवेगं, प्रपञ्च-  
यति—प्रकटयति, व्यनक्ति इत्यर्थः । अत्र द्वितीयपादस्य भिन्ना-  
क्षरवता तृतीयपादेन व्यवहिता चतुर्थपादे आवृत्तिः इति ।  
हरिणो वृत्तम् ॥ २६ ॥

चतुर्णामपि पादानां समानत्वे महायमक स्यादिति तदप्युः  
दाहरणेनैव स्पष्टयति, रम्भेति ।—अवति रक्षति इति अवकः,  
तत्सम्बुद्धौ, हे अवक ।—रक्षक । इत्यर्थः, रम्भाणां—कद-  
लीनां, ( “रम्भा कदल्यप्सरसोः” इति मेदिनी ) आरामः,—  
वन, यस्यां सा रम्भाऽऽरामा, तथा कमलाना—पद्मानाम्,  
आरम्भः,—उत्पत्तिः, यत्र सा कमलाऽऽरम्भा, रामा—मनो-  
हारिणी, अथवा—कमलानाम् आरम्भेण उत्पत्त्या आ सम-  
न्तात् रामा रमणीयेत्यर्थः, कुरवकैः,—तदाख्यैर्बृहत्तैः, कमला—  
लक्ष्मीः, शोभा इत्यर्थ, यस्याः तथोक्ता, रम्भा—तन्नाम्नी सुरा-  
ङ्गना, इव रामाः,—रमण्यः, सम्भोगार्थम् आगच्छन्त्य इति  
भावः, यस्यां तथोक्ता, न कुरिति अकुः,—अकुक्षिता इत्यर्थः,

हारीतहारी ततमेष धत्ते  
शेवालसेवालसहसमम्भः ।

अवक—वकपक्षिरहित, क—जल, ( “सुखशीर्षजलेषु कम्” इति मेदिनी ) मूलति—धारयति या तथोक्ता, यद्वा,—अवकं कमल—जल, ( “कमलं जलपद्मयोः” इति विश्वः ) यत्र इति तथोक्ता अरम्—अत्यर्थं, भाभिः,—कान्तिभिः, आ—सम्यक्, रामा—मनोहारिणी, यद्वा,—भैः,—नक्षत्रैः, रजन्यां उदितैः इत्यर्थः, आरामा—समुज्ज्वला, कुक्षिता रवाः,—शब्दाः, इति कुरवाः, न सन्ति कुरवाः शेषा इति अकुरवाः, ते एवेति अकुर-वकाः [ स्त्रार्थे कन् ] मधुररवशालिनः इत्यर्थः, कमलाः,—हरिणाः, ( “मृगभेदे तु कमलः कमला श्रीवरस्त्रियोः” इति मेदिनी ) यस्यां तथाभूता कुः,—भूमिः, ( “गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी” इत्यमरः ) अस्ति इति शेषः । अत्र प्रथमपादस्यैव पुनःपुनरावृत्तिरिति महायमकम् । यदुक्तम् अत्र “अर्द्धावृत्तिः” इति, तन्न, प्रथमद्वितीयपादयोर्भिन्नयोरेवावृत्तौ तथा वक्तुं युक्तत्वात् । भ्रमरविलसिता छन्दः,—“मो गो नौ गो भ्रमर-विलसिता” इति लक्षणात् ॥ ३० ॥

सयुतावृत्तिमूलमादिपदयमकमुदाहरति, हारीतेति ।—हारीतैः,—तदाख्यपक्षिभिः, ( “हारीतः अक्षिभेदे स्यान्मुनिभेदे च कैतवे” इति मेदिनी ) हरति—रञ्जयति इति हारीतहारी, मन्दारैः,—तदाख्यसुरभिहृत्तैः, मन्दः,—मधुरः, शनैःशनैर्वहन् इत्यर्थः, आरवः,—शब्दः, ध्वनिरिति यावत्, यस्य तथाभूतः वायुः यत्र तथोक्तः, एष,—पुरो दृश्यमानः, अद्रिः,—पर्वतः, ततं—विस्तृतं, शेवालाना—जलनीलौनां, ( अत्र तालव्यंदन्त्ययोर्भेदेऽपि सादृश्याङ्गीकारः “शसयोर्ववयोस्तथा” इति कविसमयानुगततया न दुष्टः ) सेवायां—भोगे, अलसाः,—मन्थराः, मन्दसञ्चारिणः

जम्बालजं बालमलं दधानं

मन्दारमन्दारववायुरद्रिः ॥ ३१ ॥

संयुतावृत्तिमूल मध्यपदयमकमुदाहरति,—

नेमिर्विशालनयनी नयनोदितश्री-

रभ्रान्तबुद्धिविभवो विभवोऽथ भूयः ।

प्राप्तस्तदेति नगरान्नगराजि तत्र

सूतेन चारु जगदे जगदेकनाथः ॥ ३२ ॥

इत्यर्थः, हंसाः यत्र तादृश, बालं—नबं, जम्बालात्—पङ्कात्, जायते इति जम्बालज, पङ्कजम् इत्यर्थः, (“जम्बालः शैवले पङ्के” इति मेदिनी ) अलम्—अत्यर्थं, दधानं धारयत्, अम्भः,—जल, धत्ते—धारयति । अत्र हारीत-शैवाल-जम्बाल-मन्दारपदाना प्रतिपादारम्भमावृत्तेः पदान्तरेणाव्यवहिततया संयुतावृत्तिमूल-मादिपदगतं यमकम् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३१ ॥

संयुतावृत्तिमूलं मध्यपदयमकमुदाहरति,—नेमिरिति । विशालनयनः,—दीर्घनेत्रः, पुण्डरीकदलायतनेत्र इति यावत्, नयेन—नीतिमार्गेण, नोदिता—चालिता, सम्पादितेति यावत्, श्रीः,—लक्ष्मीः, येन तथाभूतः, अभ्रान्तः,—भ्रमरहित, बुद्धेः विभवः,—सामर्थ्यं, यस्य तथोक्तः, यथार्थज्ञातेति भावः, विगतः,—निवृत्तः, भवः,—ससारः, यस्य, स विभवः, ससारवासना-शून्यतया जीवन्मुक्त इत्यर्थः, जगदेकनाथः,—जगताम्—लोका-नाम्, एकः,—अद्वितीयः, नाथः—प्रभुः, नेमिः,—तदाख्यः, महापुरुषः, नगरात्—पुरात्, स्वस्थानादित्यर्थः, तत्र—तस्मिन्, नगराजि—पर्वतराजे, रैवतके इति यावत्, तदा प्राप्तः इति सूतेन—सारथिना चारु—मनोहरं यथा भवति तथा भूयः,—पुनःपुनः, जगदे—कथितम् । अत्र “नयन-विभव-नगर-

यदुपान्तिकेषु सरलाः सरला  
यदनुच्चलन्ति हरिणा हरिणाः ।  
तद्विद विभाति कमलं कमलं  
मुदमेत्य यत्र परमाप रमा ॥ ३३ ॥  
कान्तारभूमौ पिककामिनीनां  
कां तारवाचं क्षमते स्म सोढुम् ।

जगदे" इत्येतेषा पादमध्यगतानां पदानाम् अव्यवहिताऽऽवृत्ति-  
रिति मध्यपदगतं यमकम् ।\* वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

सयुतावृत्तिमूल पादान्त्यपदयमकमुदाहरति,—यदिति ।—  
यस्य उपान्तिकेषु—प्रान्तभागीषु, सरलाः,—अवक्राः, सरलाः,  
—देवदारवः, ("सरलः पूतिक्राष्टे नाऽथोदारावक्रयोस्त्रिषु" इति  
मेदिनी ) वर्तन्ते इति शेषः; यत्—जलम्, अनु—लक्ष्मीकृत्य  
इत्यर्थः, हरिणा,—मृगाः, हरिणा—वायुना, सह इत्यर्थः,  
("हरिश्चन्द्रार्कवाताश्चशुक्रमेकयमाहिषु" इति मेदिनी )  
उच्चलन्ति—उद्गास्यान्ति, यत्र—जले, रमा—लक्ष्मीः, कमलं  
—पद्मम्, एत्य—प्राप्य, परम्—अत्यन्तं, मुदम्—आनन्दम्, आप  
—लेभे, तत् इद—पुरो दृश्यमान, कमल—जल, विभाति  
—राजते । अत्र सरल-हरिण कमल-परमापदानां पदान्त-  
रेणाव्यवहितावृत्तेः सयुतावृत्तिमूल, पादान्त्यपदयमकम् ।  
प्रमिताक्षरा वृत्त,—“प्रमिताक्षरा सजससै कथिता” इति  
तल्लक्षणात् ॥ ३३ ॥

असयुतावृत्तिमूल पादचतुष्टयादिगतपदयमकमुदाहरति,  
कान्तारिति ।—कान्ता—कामिनी, रतेशे—रमणे, कान्ते इत्यर्थः,  
अध्वनि—पश्चि, वर्तमाने—प्रोषिते इति यावत्, कान्तानि—  
प्रफुल्लतया मनोहराणि, अरविन्दानि—पद्मानि, 'यत्र तथा-  
भूतस्य, मघोः,—वसन्तस्य, प्रवेशे—आगमे सति इत्यर्थः,



कान्ता रतेश्च ध्वनि वर्त्तमाने

कान्तारविन्दस्य मधोः प्रवेशे ॥ ३४ ॥

चकार साहसं युद्धे धृतोऽहसा हसं च या ।

दैव्यं त्वां साहसं प्राप्ता द्विषां सोऽहसा ! सन्ततिः ॥ ३५ ॥

कान्तारभूमौ—काननदेशे, पिककामिनीनां—कोकिलानां, कां,  
तारवाचम्—उच्चैर्मनोज्ञवाणीं, सोढुं क्षमते स्म—शक्नोति स्म ?  
न काम् अपि इत्यर्थः । अत्र पादानाम् आदिषु वर्त्तमानस्य  
कान्तारेति पदव्यावृत्तिः, किन्तु असौ “भूमौ” इत्यादि पदान्तरैः  
व्यवहिता, इति असंयुतावृत्तिमूलं. पादादिगतपदयमकम् ।  
इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३४ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं पादमध्यगतपदयमकमुदाहरति, चकां-  
रेति ।—हे सोऽहसा !—उऽहसाहशालिन् । राजन् इति  
शेषः, या द्विषा—शत्रूणां, सन्ततिः,—समूहः, तव इति शेषः,  
युद्धे—रणभूमौ, साहसं—शस्त्रादिपातेन बलप्रकाशं, चकार  
—विदधौ, तथा धृतोऽहसां—अन्यत्र जयलाभेन उऽहसासवती  
सती, हसं—हास्यञ्च चकार, अन्यत्र अन्यान् प्राप्येति भावः; सा  
इदानीम् इति अध्याहार्यं, त्वा—भवन्त, प्राप्ता—अधिगता सती;  
साहसं—सहसोपस्थितं, दैव्यं—दीनभावं, कातर्यम् इत्यर्थः,  
चकार—प्रकटयामासेत्यर्थः, तव विक्रमदर्शनात् इति भावः ।  
यद्वा,—सा—शत्रुश्रेणी, त्वा सम्प्राप्ता सती दैव्यं चकार—प्रक-  
टयामासेत्यर्थः, “ह” इति पाठपूरणे । अथवा,—“साह” इति  
“सा” “आह” इति पदच्छेदः, तथा च—सा त्वा सम्प्राप्ता दैव्य  
चकार, आह च—दैव्यप्रकाशानन्तर क्षमा प्रार्थयामास  
चेत्यर्थः । अत्र पादमध्यगतस्य “साहसम्” इत्यस्य पदस्य  
“युद्धे” इत्यादिभिः व्यवहिततयाऽसंयुतावृत्तिमूलं पादमध्य-  
पदयमकम् ॥ ३५ ॥

गिरां श्रूयते कोकिला कोविदाऽरं  
 यतस्तद्वन विस्फुरत्कोविदारम् ।  
 सुनीनां वसत्यत्र लोको विदारं  
 न च व्याधचक्रं कृतौको विदारम् ॥ ३६ ॥

असयुतावृत्तिमूल पादान्त्यपदयमकमुदाहरति, गिरा-  
 मिति ।—कस्यचित् तपोवनस्य वर्णनमिदम् । अत्र—अस्मिन्  
 वने, गिरां—वाचा विषये, वाक्यगत-कोमलत्वमाधुर्ययोरित्यर्थः,  
 अरम्—अत्यन्त, जन्मतः प्रभृत्येवेति यावत्, कोविदा—  
 पण्डिता, निपुणा इत्यर्थः, जन्मतः प्रभृति शिचाग्रहणमन्तरेणव  
 मधुरोच्चारणे चतुरेति तात्पर्यम् ; कोकिला 'वसति इति'  
 इत्यध्याहार्यम् ; श्रूयते—आकर्ष्यते, जनैः लोकमुखादिति  
 शेषः, यतः,—यस्मात्, तत्—कोकिलाधुषितं, वनम्—अरण्यं,  
 विस्फुरन्तः,—विकसन्तः, कोविदाराः,—काञ्चनारापरनाम  
 वृक्षविशेषाः, यत्र तादृश, कोकिला हि कोविदारप्रिया भव-  
 तीति तत्र तद्वासः युज्यते एव इति भावः ; तथा सुनीनां—  
 मौनव्रतावलम्बिना तापसानां, लोकः,—भुवन, लक्षणया  
 समुदाय इत्यर्थः, ( "लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः ) विदारम्  
 —अकलत्र यथा स्यात् तथा, वसति [ तस्य जितेन्द्रियतया  
 कोकिलारवः दाररहितस्य अपि न बाधक इति सूचितम् ]  
 तथा वीन्—पक्षिणः, दारयति—नाशयति, इति विदार—पक्षि-  
 विनाशक, व्याधचक्र—किरातसमूहः, कृतम् ओकः,—स्थानं,  
 स्थितिः इत्यर्थः, येन तथाभूत, च न—नैव, भवतीति शेषः ;  
 सुनीना प्रभावात् अत्र व्याधाना प्राणिहिंसकत्वमपि नास्तीति  
 पक्षिणोऽत्र सुखं निवसन्ति इति भावः । अत्र पादान्त्यस्य  
 "कोविदारम्" इतिपदचतुष्टयस्य "यतस्तद्वनम्" इत्यादिभिः  
 व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असयुतावृत्तिमूल पादान्त्यपदयमकम् ।

— १३ भाष्ये

सिन्धुरोचितलताग्रशङ्खकी

सिन्धुरोचितमुपेत्य किन्नरैः ।

कन्दराजितमदस्तटं गिरेः

कन्दराजितगृह्णन्ति गीयते ॥ ३७ ॥

भुजङ्गप्रयात नाम छन्दः,—“भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः” इति तल्लक्षणात् ॥ ३६ ॥

असयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागगतं पादाद्यपदयमकमुदाहरति, सिन्धुरोचितेति।—किन्नरैः,—किम्परुषैः, सिन्धुराणां—हस्तिनाम्, ( “भातङ्गः सिन्धुरो हस्तो द्विपो दन्तावलः करी” इति नाममाला ) उचिताः,—योग्याः, भक्षणयोग्या इत्यर्थः, लताः अग्रे यासा तथाविधाः, यद्वा,—लतासु अग्राः,—श्रेष्ठाः, शङ्खक्यः,—गजमच्चतरुविशेषाः, यासु तथाक्ताः, याः सिन्धवः,—सरितः, ( “देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्” इत्यमरः ) शङ्खकीलतोपगूढतीरा नद्यः इत्यर्थः, ताभिः रोचितं—शोभितं, कन्दैः,—मूलविशेषैः, राजितं—शोभितं, परिपूरितम् इति यावत्, तथा कन्दराभिः,—गुहाभिः, जिता—न्यङ्कृता, गृहाणा—प्रासादानां, श्रीः,—शामा, येन तथाभूतम् [ “ऋखो नपुंसके प्रातिपदिकस्य” ( १।२।४७ पा० ) इति नपुंसके ईकारस्य ऋखत्वम् ] अटः,—इदं पुरो दृश्यमानम् इत्यर्थः, गिरेः,—पर्वतस्य, तटम् उपेत्य—आगत्य, गीयते । अत्र “सिन्धुरोचित” इत्यस्य पूर्वाङ्गगतपादद्वयाद्यपदद्वयस्य ‘लता’ इत्यादिपदान्तरैः व्यवहितावृत्तिः, “कन्दराजित” इत्यस्य च उत्तराङ्गगतपादद्वयाद्यपदद्वयस्य “मद” इत्यादिपदान्तरैः व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असयुतावृत्तिमूलं प्रत्यङ्गभागं भिन्नं पादाद्यपदयमकम् । अत्र रथोद्धता छन्दः,—“रात् परैर्नरलग्नै रथोद्धता” इति तल्लक्षणात् ॥ ३७ ॥

वसन् सरोगोऽत्र जनो न कश्चित्  
 परं सरोगो यदि राजहंसः ।  
 गीतं कलं को न करोति सिद्धः  
 शैले कलङ्कोज्जितकाननेऽस्मिन् ॥ ३८ ॥  
 जह्रुर्वसन्ते सरसीं न वारणाः  
 बभुः पिकानां मधुरा नवा रणाः ।

असयुतावृत्तिमूलं प्रत्यर्द्धभागं पादद्वयमध्यगतपदयमक-  
 मुदाहरति, वसन्निति ।—कलङ्केन—दोषेण, उज्जितं—वर्जितं,  
 काननं—वनं, यस्मिन् तथाभूते, अत्र शैले—अस्मिन् पर्वते,  
 वसन्—वास कुर्वन्, कश्चित्—कोऽपि, जनः,—लोकः, सरोगः,  
 —रोगयुक्तः, न—नास्तीत्यर्थः, अत्यन्तपवित्रवायु निर्मलसलिल-  
 शालितया अतीव स्वास्थ्यकरोऽयम् इति भावः, परं—किन्तु,  
 यदि—चेत्, सरोगः, अत्र कश्चित् स्यात्, तर्हि इति शेषः, राज-  
 हंसः,—हंसविशेषः एवेत्यर्थः, सरोगः,—सरः,—सरोवरं,  
 गच्छति इति सरोगः,—मानसाख्यसरोवरगामीत्यर्थः, [ “अन्य-  
 त्वापि दृश्यते इति वक्तव्यम्” ( वा० ) इति सर उपपदस्य  
 गमेर्ऽः] तथा अस्मिन्—अत्र शैले, कः सिद्धः,—देवयोनिविशेषः,  
 कलं—मधुरं, गीतं—गानं, न करोति ? अपि तु सर्वोऽपि  
 सिद्धः मधुरगानं करोति इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्द्धगतस्य “सरोगः”  
 इति पादमध्यभागस्थस्य पदस्य “अत्र जनः” इत्यादिभिः, उत्त-  
 रार्द्धगतस्य “कलङ्कः” इत्यस्य च “न करोति” इत्यादिभिः पदा-  
 न्तरैः व्यवहिताऽऽवृत्तिः इति असयुतावृत्तिमूल पादमध्यगत-  
 पदयमकम् । उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोः उपजातिः वृत्तम् ॥ ३८ ॥

असयुतावृत्तिमूलं प्रत्यर्द्धभाग पादान्यपदयमकमुदाहरति,  
 —जह्रुरिति ।—वारणाः,—हस्तिनः, ( “वारणस्तु मतङ्गजे”

रसं न का मोहनकोविदाऽऽर कं  
 विलोकयन्ती वकुलान् विदारकम् ॥ ३६ ॥  
 वरणाः प्रसूननिकरावरणा  
 मलिनां वहन्ति पटलौमलिनाम् ।

इति मेदिनी ) वसन्ते—सुरभिसमये, सरसीं—सरोवरं, न  
 जहुः,—न तत्यजुः, पिकानां—कोकिलानां, मधुराः,—मनो-  
 हराः, नवाः,—नूतनाः, रणाः,—कलरवाः, बभुः,—शुशुभिरे,  
 तथा मोहने—चित्तहरणे, कोविदा—निपुणा, का—नारी  
 प्रोषितभर्तृका इति भावः, वकुलान्—उपचारात् तदाख्य  
 पुष्पिततरुविशेषान्, विलोकयन्ती—पश्यन्ती सती, विदा  
 रकं—चित्तव्यथादायकं, कं रसं, विप्रलम्भशृङ्गारादिरूप  
 मित्यर्थः, न आर ?—न प्राप ? [ ऋगती इत्यस्य लिटि रूप  
 मिदम् ] अपि तु विरहित्वात् वकुलपुष्पविकासदर्शनेन सर्व-  
 विधामिव विप्रलम्भशृङ्गाररसान्गुणां सन्तापादिदशामनुबभूव  
 इत्यर्थः । अत्र पूर्वार्द्धे “न वारणाः” इत्यस्यान्त्यस्य “बभुः”  
 इत्यादिना, उत्तरार्द्धे च “विदारकम्” इत्यस्य “विलोकयन्ती”  
 इत्यादिना व्यवहिताऽऽवृत्तिकत्वात् पादान्त्यपदयमकम् ।  
 वंशस्थविलं वृत्तम् ॥ ३६ ॥

असंयुतावृत्तिमूलं प्रतिपादमाद्यन्तपदयोर्यमकमुदाहरति,  
 वरणा इति ।—अत्र—अस्मिन् पर्वते, प्रसूनानां—पुष्पाणां,  
 ( “प्रसूनं पुष्पफलयोः” इत्यमरः ) निकरः,—समूहः, (निकरो  
 निवहे सारे न्यायदेयधने निधौ” इति मेदिनी ) एव आव-  
 रणम्—आच्छादनं, येषां तथाभूताः, अत्यन्तं पुष्पिता इति  
 भावः, वरणाः,—तिक्तशाकनामानः, ( “वरुणो वरणः सेतु-  
 स्तिक्तशाकः कुमारकः” इत्यमरः ) तरवः,—वृक्षाः, मलिनां—

तरवः सदाऽत्र शिखिजातरवः

सरसश्च भाति निकटे सरसः ॥ ४० ॥

यथा यथा द्विजिह्वस्य विभवः स्यान्महत्तमः ।

तथा तथाऽस्य जायेत सर्पैवेव महत्तमः ॥ ४१ ॥

श्यामां, कृष्णवर्णामित्यर्थः, अलिना—भ्रमराणा, ( “मधु-  
लिङ्मधुपालिनः” इत्यमरः ) पटलीं—समूह, [ अत्र “षिद्धौ-  
रादिभ्यश्च” ( ४।१।४१ पा० ) इत्यनेन गौरादेराकृतिगणत्वात्  
पटलशब्दात् ङीष् ] ‘सदा—निरन्तरं, वहन्ति—धारयन्ति,  
पुष्पाणा मकरन्दलुब्धा भ्रमराः सदाऽत्र निवसन्तीति भाव,  
च—तथा, सरस’,—सरोवरस्य, निकटे—समीपे, तटे इति  
यावत्, शिखिजातस्य—मयूरसमूहस्य, यद्वा,—शिखिजाताना  
—मयूरशिश्ना, तरुणानां मयूराणांसिति भावः, रवः,—  
शब्दः, केकावाणीत्यर्थः, सरसः,—रमणीयः, मधुर सन्नित्यर्थः,  
भाति—शोभते, श्रोतृणा चित्तमामोदयतीत्यर्थः । अत्र पादादि-  
स्थाना “वरणाः” “मलिनां” “तरवः” “सरसः” इत्येतेषां  
पदानां “प्रसून” इत्यादिना व्यवहिता तेषामेव पादान्तेष्वपि  
आर्वात्तरित्यसयुतावृत्तिमूलं प्रतिपादमाद्यन्तयोः पदयमकम् ;  
तथा वरणानामलिपटलवहन प्रतिप्रसूननिकारा वरणत्वरूप-  
विशेषणपदार्थस्य हेतुविधया उपन्यासात् काव्यलिङ्गमलङ्कार-  
श्चेति ध्येयम् । प्रमिताक्षरा वृत्त,—“प्रमिताक्षरा सजससैः  
कथिता” इति तल्लक्षणात् ॥ ४० ॥

अस्ययुतावृत्तिमूल श्लोकार्वाङ्गान्यपदयमकमुदाहरति, यथेति ।  
—द्वे जिह्वे—रसने, लक्षणाया—सम्मुखे स्तुतिपरा, परोक्षे  
निन्दनपरा चेत्येवं द्विविधा वाणीत्यर्थः, यस्य तथोक्तस्य, द्विजि-  
ह्वस्य—सूचकस्य, खलस्य इति यावत्, ( “द्विजिह्वः सर्पसूचकौ”

दास्यति दास्यति कोपा-

दास्यति सति कर्करान् शापम् ।

भवति भवति ह्यनर्थी

भवतिमितस्तेन वटुक ! त्वम् ॥ ४२ ॥

इत्यमरः ) खलो हि प्रत्यक्षम् एक, परोक्षम् अन्यत् वदतीत्यत एव अस्य द्विजिह्वत्वम् इति भावः ; विभवः,—सम्पत्, यथा यथा—यत्र यत्रेत्यर्थः, महत्तमः,—अतिशयेन महान्, प्रभूत-तमः इत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, तथा तथा—तत्र तत्रैव, अस्य—द्विजिह्वस्य, तमः,— मोहः, पापमिति यावत्, ( मालिन्यगुण-साधस्यात् मोहस्य तमस्त्वव्यपदेशः ; यदुक्त दर्पणे,—“मालिन्य व्योम्नि पापे” इति ) स्रद्धया इव—विभववृद्धिजन्येर्ष्येव इत्यर्थः, महत्—गाढं, अधिकमिति यावत्, जायेत—भवेत् । अत्र प्रथ-मार्द्धान्त्यस्य “महत्तमः” इत्यस्य अंशस्य उत्तरार्द्धान्ते द्वितीय-पादादिना व्यवहिता आहृत्तिरित्यसंयुताहृत्तिमूलम् अर्द्धान्त्य-पदयमकम् । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४१ ॥

सयुताऽसयुताहृत्तिमूल पादाद्यपदयमकमुदाहरति, दास्य-तीति ।—दासीं प्रति कर्करान् क्षिपन्तं कञ्चित् बालकं प्रति कस्यचित् उक्तिरियम् । हे वटुक ।—बालक ! भवति—त्वयि, कर्करान्—कठिनान् पदार्थान्, लक्षणया प्रस्तरखण्डान् इत्यर्थः, (“कर्करी भाण्डभेदे ना दर्पणे कठिने त्रिषु” इति मेदिनी) आ—समन्तात्, अस्यति सति—क्षिपति सति, दासी—परिचारिका, अतिकोपात्—अतिक्रोधात्, सातिशयक्रोधाभिभूता सतीत्यर्थः, शापम्—आक्रोशं, दास्यति—प्रकटयिष्यतीत्यर्थः, ननु तेन का तव हानिः ? इत्याशङ्क्याह,—हि—यतः, शापादिति भावः, अनर्थः,—अनिष्टं, भवति ; तेन—हेतुना, त्व तिमितः,—निश्चलः, स्थिर इति यावत्, भव, चापल्यं विजह्वीहीति

कुलं तिमिभयादत्र करेणूनां न दीव्यति ।

नदीव्यतिकरेऽणूनां प्राणिनां गणनापि का ? ॥ ४३ ॥

भावः । अत्र प्रथमपादादौ “दास्यति” इत्यस्य तृतीयपादादौ “भवति” इत्यस्य च पदस्य प्रथमे तृतीये च पादे पदान्तरेणाव्यवहिताऽऽवृत्तिः इति संयुतावृत्तिमूलं, तथा द्वितीयपादादौ चतुर्थपादादौ च प्रथमतृतीयपादादिस्थयोः “दास्यति” “भवति” इत्येतयोः एवावृत्तिः पदान्तरेण व्यवहिता इति असंयुतावृत्तिमूलञ्चेति एकत्रैव संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं पादादिपदयमकम् । उपगीतिश्छन्दः,—“आर्याद्वितीयकेऽर्द्धे गृह्णदित लक्षणं तत् स्यात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं ता मुनिर्व्रते ॥” इति तल्लक्षणात् ॥ ४२ ॥

द्वितीयपादस्यस्य तृतीयपादे आवृत्तौ संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं यमकमुदाहरति, कुलमिति ।—अत्र—अस्मिन्, नदीव्यतिकरे—नदीसङ्गमे, करेणूना—हस्तिना, ( “करेणुरिभ्यास्त्री नेभे” इत्यमरः ) कुल—वृन्द, तिमिः,—“अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनमायतः” इत्युक्तलक्षणः सामुद्रः मत्स्यविशेषः, तस्मात् भयं तस्मात् कारणादित्यर्थः न दीव्यति—न स्वच्छन्दं क्रीडति, अणूनां—क्षुद्राणां, हस्त्यपेक्षया इति भावः, प्राणिनां गणना अपि का ?—न कापि इत्यर्थः, यत्र सहता करिणामपि त्रासात् क्रीडाविच्छित्तिस्तत्र अन्येषां क्षुद्राणां कथा गणनामध्ये एव नापतति इति भावः । अत्र “करेणूनाम्” इत्यस्य द्वितीयपादादिस्थपदस्य तृतीयपादान्ते आवृत्तिः नेत्यादिना पदान्तरेण व्यवहितेति असंयुतावृत्तिमूलं, तथा “न दीव्यति” इति द्वितीयपादान्तस्थाशस्य तृतीयपादादौ आवृत्तिः पदान्तरेणाव्यवहिता इति संयुतावृत्तिमूलञ्चेति एकत्र संयुताऽसंयुतावृत्तिमूलं पदयमकम् ॥ ४३ ॥



गाङ्गाम्बुधवलाङ्गाभो मुमुक्षुध्यानगोचरः ।

पापान्तिहरणायस्तु स सज्ज्ञानो जिनः सताम् ॥ ४४ ॥

जगदात्मकीर्त्तिशुभ्र जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः ।

जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः ॥ ४५ ॥

संयुतावृत्तिमूल वर्णयमकमुदाहरति, गाङ्गेति ।—गाङ्गायाः इदं गाङ्गं यत् अम्बु—जलं, तद्वत् धवला—श्वेता, शुद्धेति यावत्, अङ्गस्य—देहस्य, करचरणादेरित्यर्थः, आभा—कान्तिः, यस्य सः, मुमुक्षूणां—निर्वाणार्थिनां पुरुषाणां, ध्यानस्य—समाधेः, गोचरः,—विषयः, समाधिद्वारैव मुमुक्षुजनसाक्षात्करणीयः इत्यर्थः, सत्—समीचीनं, ज्ञानं यस्य तथाभूतः, तत्त्वविदित्यर्थः, [ “सज्ज्ञानः” इत्यत्र “सज्ञानः” इति पाठे—ज्ञानेन—ब्रह्मज्ञानेन इत्यर्थः, सहितः, ब्रह्मज्ञानपरायण इति यावत्, साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपः इति भावः ] सः,—प्रसिद्धः, जिनः,—बुद्धदेवः, ( बुद्धपर्याये “मारजिल्लोकजिज्जिनः” इत्यमरः ) सता—साधूना, पापान्तिहरणाय—पापक्लेशध्वसनाय, अस्तु—भवतु । अत्र “गा, मु, पा, स” वर्णानां क्रमेण चतुर्णां पादानामादौ द्विरुक्तिः वर्णान्तराव्यवधानेन सयुतेति संयुतावृत्ति पादादिगतं वर्णयमकम् । वस्तुतस्तु वर्णयमकोदाहरणे इदं पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभासते, उदाहृते पद्येऽनुप्रासस्यैव स्फुटं प्रतिपत्तेः, न च “गा-मु-पा-स-” वर्णानां पादाद्यानामावृत्तेः सयुतावृत्तिमूल पादादिगतं वर्णयमकम् इति एकानेकवर्णावृत्तिमूलस्य अनुप्रासयमकयामेदस्य लापापत्तेः । अनुष्टुप् वृत्तम् ॥ ४४ ॥

असयुतावृत्तिमूल वर्णयमकमुदाहरति, जगदिति ।—उद्दामम्—उत्कटं, धाम—तेजः, उपचारात् वीर्यमिति यावत्, यस्य तथाभूतः दोः,—भुजः, एव परिघः,—अगलः, यस्य

मामाकारयते रामा सा मुदितमानसा ।

या या मदार्णच्छाया नानाहेलामयानना ॥ ४६ ॥

तथोक्तः, अत्यन्तवीर्योद्दामतया यस्य बाहुः शत्रूणा प्रतिरोधे परि-  
घायते, तादृश इति यावत् ; प्रतापेन—तेजसा, पूषा—सूर्यः,  
तेजसा सूर्यसदृश इत्यर्थः, जयसिंहः,—जयसिंहेति नाम्ना  
ख्यातः, क्षामता—राज्ञाम्, अधिनाथः,—अधीश्वरः, जगत्—  
त्रिभुवनम्, आत्मनः,—स्वस्य कीर्त्तिभिः,—यशोभिः, शुभ्रं—  
धवलं, जनयन्—विदधत्. कुर्वन् इत्यर्थः, जयति—सर्वोत्कर्षेण  
वर्त्तते । अत्र तृतीयपादादिस्थयोः “जय” इत्येतयोः वर्णयोः  
चतुर्थपादादौ आहृत्तिः, सा च तृतीयपादान्तस्थेन “प्रताप”  
इत्यादिना व्यवहिता इति असयुताहृत्तिमूलं पादादिवर्ण-  
यमकम् । न च चतुर्णामिव पादानामादौ “ज” इत्यस्या-  
हृत्तेः पादादिवर्णयमकम् इति शङ्काम्, एकवर्णस्याहृत्तावनुप्रास-  
स्यैव स्त्रीकारात् । आर्या छन्दः ॥ ४५ ॥

पादाद्यस्य वर्णस्य पादान्ते आहृत्तिमूलं यमकमुदाहरति,  
—मामेति ।—या या—रामा, मदेन—मद्यपानेन, अरुणा—  
रक्ता, छाया—कान्तिः, यस्या तथाभूता, तथा नानाहेला-  
मयं—विविधविलासपूर्णम्, आननं—मुखं यस्याः तादृशी, सा  
सा—तादृशी तादृशीत्यर्थः, रामा—कान्ता, मुदितमानसा—  
हृष्टचित्ता सती, माम् आकारयते—आह्वयति । अत्र पादा-  
नामारम्भे वर्त्तमानाना “मा” “सा” “या” “ना” इत्येषां  
वर्णानां पादानाम् अन्ते आहृत्तिः इति वर्णाहृत्तिमूल यम-  
कम् । प्रथमपादादौ तु पादादिवर्णयमकमपीति बोध्यम् ।  
एतच्चासयुताहृत्तिमूलम् ; संयुताहृत्तिमूलन्तु यथा भट्टिकाव्ये  
दशमे सर्गे,—“चित्र चित्रमिवायातो विचित्रं तस्य भूयतम् ।  
हरयो वेगमासाद्य सन्नस्ता मुमुहुर्मुहुः ॥” इति । अत्र हि

स्वभावोक्तिमाह,—

स्वभावोक्तिः पदार्थस्य सक्रियस्याक्रियस्य वा ।

जातिविशेषतो रम्या हीनत्वस्ताऽर्भकादिषु ॥ ४७ ॥

उदाहरति,—

बर्हावली बहलकाञ्चिरुचो विचित्र-

भूर्जत्वचा रचितचारुदुकूललीलाः ।

चतुर्थपादान्ते “मुहुः” इत्येतयोः वर्णयोः सयुताऽऽवृत्तिः । यथा वा तत्रैव,—“रघुतनयमगात् तपोवनस्थं विधृतजटाऽजिन-बल्कल हनूमान् । परमिव पुरुषं नरेण युक्त समशमवेश-समाधिनाऽनुजेन ॥” इत्यत्र “सम” इत्येतयोः वर्णयोः वर्णान्तरिण अव्यवहिताऽऽवृत्तिः, इति दिक् ॥ ४६ ॥

तदेवं शब्दालङ्कारान् उक्त्वा अर्थालङ्कारान् वक्तुमुपक्रान्तः प्रथमं जातिमाह, स्वभावोक्तिरिति ।—सक्रियस्य—क्रियाः,—गत्यादयः, तत्सहितस्य, चेतनस्य इत्यर्थः, वा—यद्वा, अक्रियस्य—गमनादिक्रियारहितस्य, अचेतनस्य इत्यर्थः, पदार्थस्य—वस्तुनः, स्वभावोक्तिः,—स्वरूपवर्णनं, जातिः,—जातिनामालङ्कारः । सा च—जातिरित्यर्थः, हीने—निकृष्टे, भिक्षादौ इति भावः, तस्ते—भीते प्राणिनि, तथा अर्भकादिषु—बालकादिषु, [ आदिपदेन कुपितादौना ग्रहणम् ] विशेषतः रम्या—मनोहारिणी, भवतीति शेषः । यद्यपि वस्वन्तरस्वभाववर्णनमपि जातिरेव, तथाऽपि भीत-बालक-अधमजात्यादौनां स्वभाववर्णन-मतीव हृद्यम् इति जातेरुत्कर्षतापादनम् । एषा च स्वभावोक्ति-शब्देन प्रायशो व्यवह्रियते ॥ ४७ ॥

जातिमुदाहरति, बर्हेति ।—अत्र—अस्मिन्, वने—अरण्ये, बर्हाणां—मयूरपिच्छानाम्, आवली—श्रेणी, एव बहला—

गुञ्जाफलग्रथितहारलताः सहेलं

खेलन्ति खेलगतयोऽत्र वने शबर्यः ॥ ४८ ॥

आरत्तणेत्तधोरणिभीसणवअणुक्करो कुरङ्गच्छि ।

उल्लसिअवीसभुअवणविणिवेसो दसमुहो एषो ॥ ४९ ॥

विशाला, काञ्चिः,—मेखला, तथा रोचन्ते—शोभन्ते इति तथोक्ता, [“काञ्चि” इत्यत्र “कान्ति” इति पाठे—बर्हावलौभिः बहला—विपुला, या कान्तिः तथा रोचन्ते इति तथोक्ताः ] विचित्रया—विविधवर्णया, भूर्जत्वचा—भूर्जवल्कलेन, रचिता—निर्मिता, चारुदुकूलस्य—शोभनपट्टवसनस्य, लीला—विलासः, अनुकरणमिति यावत्, याभिः तथाविधाः, परिहित-भूर्जत्वचः इत्यर्थः, तथा गुञ्जाफलैः,—कण्णलाफलैः, ( “काक-चिञ्ची गुञ्जे तु कण्णला” इत्यमरः ) ग्रथिता—गुम्फिता, हारः एव लता याभिः तथोक्ताः, शबर्यः,—भिक्कनार्यः, खेलगतयः,—सविलासगमनाः सत्यः, सहेलं—सविलासं यथा तथा, खेलन्ति—क्रीडन्ति । अत्र नीचजातानां शबरीणां स्वावस्थानुरूपवर्हा-बलो-भूर्जत्वग्-गुञ्जाफलादिकल्पित-काञ्चयादिधारणरूपस्वाभाव्य-वर्णनात् हीनजातिगतचेष्टितोक्तिरूपा जातिरलङ्कारः । वसन्त-तिलक वृत्तम् ॥ ४८ ॥

तामेव प्राकृते काव्येऽप्युदाहरति, आरत्तेति ।—[ “आरत्त-नयनश्रेणीभीषणवदनोत्करः कुरङ्गाच्छि । । उल्लसितविशतिभुज-वनविनिवेशो दशमुख एषः ॥” इति सस्कृतम् ] सीता प्रति कस्याञ्चित् राक्षस्याः उक्तिरियम् । हे कुरङ्गाच्छि ।—मृगनयने । [ कुरङ्गस्य अक्षिणाव अक्षिणो यस्याः सा तथोक्ता, तत्सम्बुद्धौ ] आ—समन्तात्, रक्तानां—लोहितानां, नयनानां—लोचनानां, श्रेणीभिः,—पङ्क्तिभिः, भीषणः,—भयङ्करः, वदनोत्करः,—मुखसमूहः, दशमुखानोत्यर्थः, यस्य तथाभूतः, उल्लसितः,—

श्रीः  
सरस्वती

उपमामाह,—

उपमानेन सादृश्यमुपमेयस्य यत्र सा ।

प्रत्ययाऽव्ययतुल्यार्थसमासैरुपमा मता ॥५०॥

उदाहरति,—

गत्या विभ्रममन्द्या प्रतिपद या राजहंसायते

यस्याः पूर्णशशाङ्कमण्डलमिव श्रीमत् सदैवाननम् ।

उल्लासशाली, प्रस्फुरित इत्यर्थः, विंशतिभुजवनस्य—विंशति-  
सङ्ग्रककरारण्यस्य, विनिवेशः,—समावेशः, यत्र तादृशः,  
विंशतिसङ्ग्रका भुजा यस्योल्लसन्ति तथाभूत इति यावत् ;  
एषः दशमुखः,—रावणः, वर्तते इति शेषः । अत्र निसर्गादेव  
भीषणाकृतेः रावणस्य सहजभोतिवर्द्धकारक्तनयन-अनेकमुख-  
विंशतिभुजवनत्वादिरूप-स्वरूपवर्णनात् स्वभावोक्तिः ॥ ४९ ॥

उपमा लक्षयति, उपमानेनेति ।—यत्र प्रत्ययैः,—वतिप्रभृ-  
तिभिः, अव्ययैः,—इवादिभिः, तुल्यार्थैः,—समतुल्यादिभिः पदैः,  
तथा समासैः,—कर्मधारयबहुव्रीह्यादिभिः, उपमेयस्य—प्रकृ-  
तस्य इत्यर्थः, उपमानेन—अप्रकृतेन, उपमासाधनेन पद्मादिना  
सहेत्यर्थः, सादृश्यं—साम्य, सां—उक्तलक्षणा, उपमा—उप-  
माख्योऽलङ्कारः इत्यर्थः, मता—कथिता इत्यर्थः ॥ ५० ॥

सम्प्रति तामिवोपमामुदाहरति, गत्येति ।—या—राजौमती-  
त्यर्थः, विभ्रमेण—विलासेन, मन्द्या—मन्थरया, गत्या—गम-  
नेन, प्रतिपद—प्रतिपादक्षेपं, राजहंसायते—राजहंसी इव  
आचरति, [ अत्र “कर्तुः क्यङ् सलोपश्च” ( ३।१।११ पा० )  
इति आचारे क्यङ्प्रत्ययः ] यस्याः आनन—मुखं, पूर्ण-  
शशाङ्कमण्डलमिव—सकलकलानाथविम्बवत्, [ अत्र पूर्ण-  
शशाङ्कमण्डलमित्यस्य इवशब्देन “इवेन समासे विभक्त्य-  
लोपश्च” इति वार्तिकवचनात् नित्यसमासः ] सदा—नित्यम्

यस्याश्चानुकरोति नेत्रयुगलं नीलोत्पलानि श्रिया  
तां कुन्दाग्रदतीं त्यजन् जिनपती राजीमतीं पातु वः ॥ ५१ ॥

अपरमुदाहरणम्,—

चन्द्रवद्दहनं तस्याः नेत्रे नीलोत्पले इव ।

पक्वविम्बं हसत्योष्ठः पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवः ॥ ५२ ॥

एव, ओमत्—समुज्ज्वलम् इत्यर्थः, [ अत्र इवेत्यव्ययम् ] यस्याः  
नेत्रयुगलञ्च—नयनद्वयमपि, श्रिया—कान्त्या, नीलोत्पलानि—  
इन्दोवराणि, अनुकरोति—अनुवदति, [ अत्र तुल्यार्था क्रिया ]  
तां, कुन्दानि—कुन्दकुसुमानि इव, अग्राः,—मनोज्ञाः, यद्वा,  
—कुन्दाग्रवत्—कुन्दपुष्पाग्रभागवत्, मनोरमा इत्यर्थः, दन्ताः  
यस्याः तादृशोम्, [ अत्र समासः ] राजीमतीं—तदाख्यां कान्ताम्  
इत्यर्थः, त्यजन्—विजहत्, तां परित्यज्य विषयभोगे विरक्ति-  
मुपागता इति यावत् ; जिनपतिः,—बृहदेवः, वः,—युष्मान्,  
पातु—रक्षतु । अत्र उपमेयानां राजीमती तदानन नेत्र-  
युगल दन्तरूपाणाम् उपमानैः राजहसीचन्द्रमण्डलनीलोत्पल-  
कुन्दपुष्पाग्ररूपैः सादृश्यं, तच्च “राजहसायते” इति क्यङ्प्रत्य-  
येन, “इव” इत्यव्ययेन, “अनुकरोति” इति तुल्यार्थक्रियया,  
“कुन्दाग्रदतीम्” इत्यत्र समासेन च बोध्यते इत्युपमाऽलङ्कार-  
सङ्गतिः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ ५१ ॥

अपरमप्युदाहरणमाह, चन्द्रवदिति ।—तस्याः,—प्रसि-  
द्धायाः कान्तायाः, राजीमत्या इत्यर्थः, वदनं—मुख, चन्द्रवत्  
—चन्द्रेण तुल्य मनोहरमित्यर्थः, नेत्रे—नयने, नीलोत्पले—  
इन्दोवरे इव, ओष्ठः,—अधरः, पक्वविम्बं—परिणतं विम्बफलं,  
हमति—उपहसति, तिरस्करोतीत्यर्थः, यद्वा,—हसति—अनु-  
करोति, धातूनामनेकाद्येत्वेनात्र हसधातोरनुकरणरूपतुल्यार्थ-  
तैव अस्य बहुश्लोकाकारकतनुत्वाद्येत्युदाहरणानुरोधेन स्त्रीक्रि-  
वा—१०

अन्यच्चीदाहरणम्,—

मअभरिअमाणसस्सवि णिच्चं दोसाअरस्स ससिणोब्ब ।

तुह विरहे तीअ मुहं सकुइअ सुहअ । कुमुअब्ब ॥ ५३ ॥

यते इति ध्येयम् ; भ्रुव',—नेत्रयोरूर्ध्वस्थिता रोमराजयः, पुष्प-  
धन्वनः,—कामस्य, धनुः,—शरासनं, हसन्ति इति वचनव्यत्यये-  
नेान्वयः । [ अत्र भ्रूशब्दे बहुवचनमविवक्षितम् ] यद्वा,—  
पुष्पधन्वधनुर्भ्रुवः इत्येक पदं, पुष्पं धनुः यस्य असौ पुष्पधन्वा  
—कामः, तस्य धनुः इव भ्रूः यस्याः तथाभूतायाः, [ अस्मिन्  
पक्षे,—तस्या इत्यस्य विशेषणमिदम् ] । अत्र वदननेत्रौष्ठभ्रुवाम्  
उपमेयानां चन्द्रनीलोत्पलपद्मविम्बकामधनुर्भिः सह सादृश्यं  
क्रमशः “वत्” इति प्रत्ययेन “इव” इति अव्ययेन, “हसति”  
इति तुल्यार्थपदेन च वर्णनात् उपमाऽलङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावत्तं  
वृत्तम् ॥ ५२ ॥

प्राकृते काव्ये तामेव उदाहरति, मअ इति ।—[“मदभृतमानस-  
स्यापि नित्यं दोषाकरस्य शशिन इव । तव विरहे तस्या मुखं  
सङ्कुचितं सुभग । कुमुदमिव ॥” इति संस्कृतम्] । हे सुभग !—  
सौभाग्यशालिन् !, नित्य—सततं, मदेन—हर्षेण, भृत—सभृत,  
पूर्णमिति यावत्, मानस—चित्त, यस्य तथोक्तस्य, सततानन्द-  
प्रफुल्लचित्तस्येत्यर्थः, अन्यत्,—मदः,—कस्तूरी, ( “मदो रेतसि  
कस्तूर्या गर्वे हर्षेभदानयोः” इति मेदिनी ) सोऽस्यास्ति इति  
मदः,—कस्तूरीमृगः, [ मदशब्दादस्यर्थे “अशं-आदिभ्योऽच्”  
( ५।२।१२७ पा० ) इति अच्प्रत्ययः ] तेन भृतं—व्याप्त,  
मानस—हृदयं, लक्षणाया तदुपलक्षितो मध्यदेश इत्यर्थः,  
उत्सङ्ग इति यावत्, यस्य तथाविधस्य, दोषाकरस्य—विविध-  
दोषपूर्णस्य, अन्यत्,—रात्रिजनकस्य निशाकरस्य, ( “दोषाकरो  
दोषपूर्णं त्रिषु पुंसि निशाकरे” इत्यजयः ) अपि शशिनः इव—

उपमेयोपमाया उदाहरणम्,—

तं णमह वीतरात्र जिणं दमुदल्लिअट्ठतरकसाअं ।

जस्स मणं व्व शरीर मणं शरीरं व्व सुपसन्न ॥ ५४ ॥

चन्द्रस्य इव, तव—भवतः, विरहे—वियोगे, तस्याः,—कामिन्या, सुख—वदन, कुमुदम् इव—रात्रिविकासिसरोजविशेषवत्, सङ्कुचित—सुद्वितं, भवति इति शेषः । अत्र सुभगस्योपमेयस्य चन्द्रस्योपमानस्य च, तथा तत्पदवाच्य-कान्तासुखस्योपमेयस्य कुमुदस्य चोपमानस्य विरहकालिकं सादृश्यम् इवपदेनाभिहितमिति स्फुटा उपमालक्षणसङ्गतिः ॥ ५३ ॥

उपमाविशेषोपमेयोपमामुदाहरति, त णमह इति ।—[ “त नमत वीतरागं जिणं दमोदल्लितट्ठतरकषायम् । यस्य मन इव शरीरं मनः शरीरमिव सुप्रसन्नम् ॥” इति, संस्कृतम् ] हे सेवकाः ! (इति आमन्त्रणपदमध्याहार्यम्) वीतराग—विगतविषयवासन, दमेन—इन्द्रियाणामन्तर्निग्रहेण, उदल्लिता,—वशीकृताः, अत एव ट्ठतरा,—अतिशयेन निश्चलाः, कषाया,—कामक्रोधादय इति यावत्, ( “कषायं सुरभी रसे । रागवस्तुनि निर्व्यासे क्रोधादिषु विलेपने ॥” इति हैम ) येन तथाविध, त—तादृशमित्यर्थः, जिणं—बुद्धदेवं, नमत—सेवध्वम् इत्यर्थः । तं कीदृशम् ? इत्याह, यस्येति ।—यस्य—बुद्धस्य, शरीरं—देहः, मन इव—चित्तमिव, अन्तःकरणमिवेति यावत्, मनश्च—चित्तञ्च, शरीरम् इव—देहवत्, सुप्रसन्न—प्रसादगुणयुक्त, नित्यप्रफुल्लमित्यर्थः, वर्तते इति शेषः । अत्र प्राक् शरीरम् उपमेयं, मनः उपमान, पश्चात् मनः उपमेय, शरीरञ्चोपमानमिति शरीरमनसोरुपमानोपमेयभावः क्रमेण परस्पर निर्दिष्ट इति उपमाविशेषः, अत एव एताम् “उपमेयोपमा” इत्याहुर्नव्याः, तथा हि साहित्यदर्पणकारः,—“पर्यायेण द्वयोरितदुपमेयोपमा मता” इति ॥ ५४ ॥



अनन्वगीपमाया उदाहरणम्,—

ये देव ! भवतः पादौ भवत्पादाविवाश्रिताः ।

ते लभन्तेऽद्भुतां भव्यां श्रियं त इव शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

वह्नपमेऽमूलोपमाया उदाहरणम्,—

आलोकनञ्च वचनञ्च निगूहनञ्च

यासां स्मरन्नमृतवत् सरसं क्लशस्त्वम् ।

उपमाभेदानन्वयोपमामुदाहरति, ये इति ।—हे देव !—  
प्रभो ! ये—जनाः इत्याशयः, भवतः,—तव, पादौ—चरणौ,  
भवत्पादौ इव—भवतः,—तव, पादौ—चरणौ इव, ( “राम-  
रावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव” इत्यादिवत् पादयोरनन्वयोपमान-  
त्वात् भवत्पादावेव भवत्पादयोः उपमानं बोध्यम् ) आश्रिताः,  
—प्राप्ताः, ते—जनाः, ते इव—लोकोत्तरा इव इत्याशयः,  
अद्भुताम्—अपूर्वाम्, आश्चर्यजनिकामित्यर्थः, भव्यां—कल्याण-  
विधायिनीं, समीचीनामिति यावत्, शाश्वतीं—नित्याम्, अवि-  
नाशिनौमित्यर्थः, श्रियं—सम्पदं, लभन्ते—प्राप्नुवन्ति । अत्र उप-  
मानोपमेययोरैक्यमिति विशेषः ; अत एव नव्याः इमामेव अन-  
न्वयानुद्धारमाहुः, तदुक्तं दर्पणकृता,—“उपमानोपमेयत्वमेक-  
स्यैव त्वनन्वयः” इति । अत्र हि पूर्वार्धे प्रथमोक्ती “पादौ” इति  
उपमेय, पश्चादुक्ती “पादौ इव” इति उपमानम्, एवं परार्धे “ते”  
इति उपमेयं, “ते इव” इत्युपमानम् । पथ्यावक्तव्यम् ॥ ५५ ॥

उपमेयानामनेकत्वनिबन्धनाऽप्युपमा सम्भवतीति तामेवी-  
दाहरति, आलोकनमिति ।—काञ्चित् रागिणं प्रति कस्यचित्  
विरागिण उक्तिरियम् । हे मित्र ! ( इति अध्याहार्यं ) यासाम्  
—अङ्गनानाम्, आलोकनम्—अवलोकनञ्च, वचनञ्च—भाष-  
णञ्च, निगूहनम्—आलिङ्गनञ्च, अमृतवत्—अमृतेन तुल्यं,  
सुधासदृशमित्यर्थः, सरसं—सुखदशान्तिनिदानमित्यर्थः, स्मरन्

तासां किमङ्ग ! पिशितास्थिपुरीषपात्रं  
गात्रं विचिन्त्य सुदृशां न निराकुलोऽसि ? ॥ ५६ ॥

अनेकोपमानमूलासुपमामुदाहरति,—

कलेव चन्द्रस्य कलङ्कमुक्ता

मुक्तावलीवीरुगुणप्रपन्ना ।

जगत्त्रयायाभिमतं ददाना

जेनेश्वरी कल्पलतेव मूर्त्तिः ॥ ५७ ॥

—अनुचिन्तयन्, मन्वानः इति यावत्, त्व क्लृप्तः,—क्षीणः,  
दुर्बल इत्यर्थः, असि इति शेषः, अङ्ग ।—भोः । सुदृशा—  
सुनयनानां, तासां—तादृशोनामपि स्त्रीणां, गात्रम्—अङ्गं,  
पिशितं—मासम्, अस्थि—कङ्कालम्, [ “अस्र” इति पाठान्तरे  
तु,—अस्र—रुधिरमित्यर्थः, “असः कोणे कचे पुंसि क्लीवमश्रुणि  
शोणिते” इति मेदिनी ] पुरीष—विष्टा, च तेषां पात्रम्—  
आधारभूतं, विचिन्त्य—विविच्य, न निराकुलः,—अव्याकुल,  
असि किम् ? अत्र काङ्क्षु, अपि तु निराकुल एव भवितुमर्ह-  
सीति भावः । अत्र उपमेयानाम् आलोकनवचननिगूहनानां  
बहूनाम् एकेन अमृतेन उपमानेन सादृश्यम् इति विशेषः,  
तेन च बहूपमेयसमुच्चितेयसुपमाऽलङ्कृतिः । वसन्ततिक्तकं  
वृत्तम् ॥ ५६ ॥

सम्प्रति बहूपमानमूलसुपमाविशेषमुदाहरति, कलेवेति ।  
—चन्द्रस्य—चन्द्रमसः, कला इव—अश इव, कलङ्कमुक्ता—  
निष्कलङ्का, अन्यत्र,—निर्दोषा इत्यर्थः, मुक्ताऽऽवली—मुक्ता-  
हारः, इव उरुणा—महता, गुणेन—सूत्रेण, प्रपन्ना—गुम्फिता,  
अन्यत्र,—उरुभिः,—महद्भिः, गुणैः,—गाम्भीर्यौदार्यादिभि-  
रिति यावत्, प्रपन्ना—युक्ता इत्यर्थः, कल्पलता इव—कल्पवल्ली  
इव, उपसन्नानां समस्तकामपूरकसुरतरुविशेषवदिति यावत्,

उपमादोषान् तदप्रतिप्रसवञ्चाह,—

विभिन्नलिङ्गवचनां नातिहीनाधिकाञ्च ताम् ।

निबध्नन्ति बुधाः क्वापि लिङ्गभेदन्तु मेनिरे ॥ ५८ ॥

जगत्त्रयाय—त्रिभुवनाय, अभिमतं—वाञ्छितं, फलमिति यावत्, ददाना—वितरन्ती, जैनेश्वरी—जिनः,—बुद्धदेवः, एव ईश्वरः,—अणिमाऽऽद्यष्टसिद्धिशाली प्रभुः, तस्येयम् इति तयोक्ता, बुद्धदेवसम्बन्धिनीत्यर्थः, मूर्त्तिः,—प्रतिकृतिः, वर्त्तते इति शेषः । अत्र एकस्याः एव मूर्त्तेः उपमेयभूतायाः चन्द्र-कला मुक्तावली-कल्पलतारूपाणि त्रीणि उपमानानि इति विशेषः, अत एव इयं “मालोपमा” इति नव्याः प्राहुः ; तदुक्तं दर्पणकृता,—“मालोपमा यदेकस्योपमान बहु दृश्यते” इति । काव्यादर्शकारास्तु—इमामेव बहूपमाननिर्देशमूलां बहूपमा-माचक्षाणा उदाहरन्ति,—“चन्द्रनोदक-चन्द्रांशु-चन्द्रकान्तादि-शीतलः । स्पर्शस्तवेत्यतिशयं बोधयन्ती बहूपमा ॥” इति । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ५७ ॥

उपमाया दोषानाह, विभिन्नेति ।—बुधाः,—विद्वांसः, विभिन्ने—पृथग्भूते, लिङ्गवचने यस्यां ताम्, अतिहीनाधिकाम्—अतिहीनाम्—अत्यपक्वाम्, अत्यधिकाम्—अत्युत्कृष्टाश्चेत्यर्थः, ताम्—उक्तरूपासुपमामित्यर्थः, न निबध्नन्ति—रचयन्ति ; क्वापि—क्वचित्तु, केषुचित् स्थलेषु तु इति यावत्, लिङ्गभेदं,—लिङ्गपार्थक्यम्, ( उपलक्षणमेतत्, तेन वचनभेदञ्चापि ज्ञेयम् ) मेनिरे—मन्यन्ते स्म, निर्दोषमिति शेषः । अत्रेदं बोध्यम्,—उपमानोपमेययोः साधर्म्यमुपमा, तयोः साधर्म्यञ्च, अत्युत्कृष्टत्वातिनिकृष्टत्वयोः विभिन्नलिङ्गत्वे विभिन्नवचनत्वे च निरतिशयकष्टकल्पनापातात् अलङ्कारत्वप्रयोजकचमत्कारित्वप्रतीति-

उदाहरति,—

हिममिव कीर्त्तिर्धवला

चन्द्रकलेवातिनिर्मला वाचः ।

व्याघाताच्च न सम्भवति, अतः तन्निर्वाहार्थम् उपमानस्य उप-  
मेयस्य च जातिप्रमाणादिना उत्कृष्टत्वापकृष्टत्वादिना च  
अत्यधिकत्वे अतिन्यूनत्वे वा, तथा उपमानोपमेययोः विभिन्न-  
लिङ्गवचनत्वे सादृश्यप्रतीतिर्विघातः प्रतीतिसिद्धः । यत्र तु  
“छायेव ता भूपतिरन्वगच्छत्” “सरागपद्म तव चक्षुषी प्रिये !”  
इत्यादौ लिङ्गवचनयोर्विभिन्नत्वेऽपि रचनानैपुण्यवशात् न  
विभेदप्रतीतिः, न वा चमत्कारित्वप्रतीतिव्याघातः, तत्र उप-  
मानोपमेययोरेवाधेनेव साधर्म्यप्रतीतिनिर्वाहादुपमा निर्दोषै-  
वेति आलङ्कारिकैः परिशीलितः पन्थाः ॥ ५८ ॥

उपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदम्, उपमेयापेक्षया उप-  
मानस्य जात्या प्रमाणेन च अतिनिकृष्टत्वसत्यधिकत्वञ्च क्रमे-  
णोदाहरन्नाह, हिममिति ।—हे राजन् । (इति अध्याहार्यम्) ।  
ते—तत्र, कीर्त्तिः,—यशः, हिमम् इव—तुषार इव, धवला—  
शुभ्रा, (अत्र उपमान “हिमम्” स्त्रीलिङ्गम्, उपमेयरूपायाः  
कीर्त्तिः स्त्रीलिङ्गता इति लिङ्गभेदः, अयञ्च उपमानोपमेययोः  
साम्यव्याघातकः, धवलरूपसाधर्म्यस्यञ्जकशब्दस्य एकरूपेण  
उभयोः विशेषणत्वानुपपत्तेः इति बोध्यम्) ते वाचः,—वाक्यानि,  
चन्द्रकला इव अतिनिर्मलाः,—निरतिशयकीमलाः, भवन्तीति  
शेषः, (अत्र उपमानस्य “चन्द्रकला” इति पदस्य एकवचनान्तता,  
उपमेयस्य “वाचः” इति पदस्य बहुवचनान्तता इति  
वचनभेदः, किन्तु नायं दुष्टः, उपमानोपमेययोः उभयोरेव  
स्त्रीलिङ्गत्वेन वचनभेदेऽपि विशेषणस्यातिनिर्मलशब्दस्य  
बहुवचनान्तत्वप्रत्ययेऽपि सन्धो विमर्गलोपात् उभयविशेषणत्वे

ध्वाङ्गस्येव च दाक्ष्यं

नभ इव वक्षश्च ते विपुलम् ॥ ५९ ॥

‘अपरोदाहरणप्रकारः,—

शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षां प्रतिभासते ।

खद्योत इव सर्वत्र प्रतापश्च विराजते ॥ ६० ॥

नैवान्वयेन साम्यनिर्वाहात्, यद्यपि दोषोदाहरणप्रसङ्गे “वाचः” इत्यत्र “वाक्यम्” इति पाठपरिवृत्तौ प्रकृतोदाहरणं सङ्गच्छते, तथाऽपि एकत्रैव लिङ्गवचनोभयभेदोत्थानात् वचनमात्रभेदोदाहरणासङ्गतिः सुस्थितैवेति बोध्यम्) तव दाक्ष्यं—चातुर्यं, ध्वाङ्गस्य इव—काकस्य इव, काको यथा नितरां चतुरः, तथा त्वमपि इति भावः, (अत्र उपमानस्य ध्वाङ्गस्य राजापेक्षया जात्या अतिहीनत्वम् इति हीनोपमत्वम्, इदञ्च जात्य उल्कृष्टमपि निकृष्टं प्रत्याययत् तयोः साम्यं निहन्ति इति दूषकताबीज बोध्यम्) वक्षश्च—उरःस्थलञ्च, नभः इव—आकाशम् इव, विपुल—विशालम् । अत्र तु उपमानस्य नभसः वक्षोऽपेक्षया प्रमाणतः आधिक्यम् इति अधिकोपमत्वम् ; इदञ्च उपमेयस्य उपमानेन सम साधर्म्यम् असम्भावयत् श्रोतुरद्वेगमुत्पादयतीति दूषकताबीजम् । आर्यां वृत्तम् ॥ ५९ ॥

उपमानस्य जात्या प्रमाणतश्च क्रमेणात्यधिकत्वमतिन्यूनत्वञ्चोदाहरति, शुनीति ।—इयं—परिदृश्यमाना, शुनी—कुक्कुरी, प्रत्यक्षा—चक्षुर्विषयीभूता, गृहदेवी इव—गृहदेवता इव, प्रतिभासते—राजते ; (अत्र उपमानस्य गृहदेवतापदार्थस्य उपमेयकुक्कुरापेक्षया जात्या अत्यधिकत्वम्, इदञ्च साम्यं परिहरत् वक्तुर्जघन्यत्व निदर्शयतीति दूषकताबीजम्) प्रतापश्च—प्रभावश्च, खद्योत इव—ज्योतिरिङ्गण इव, (खद्योतो ज्योतिरिङ्गणः” इत्यमरः) सर्वत्र—सर्वस्मिन् देशे इत्यर्थः, विराजते—

हीनाधिकविशेषणमुपमानमुदाहरति,—

सफेनपिण्डः प्रौढोर्मिरब्धि शार्ङ्गीव शङ्कभृत् ।

स्योतन्मदः करी वर्षन् विद्युत्वानिव वारिदः ॥ ६१ ॥

शोभते ; अत्र उपमानस्य ज्योतिरिङ्गणस्य उपमेयरूपया टिगन्त-  
व्यापिपतापापेक्षया प्रमाणतोऽतिन्यूनत्व, सर्वत्र तत्तदधिकगुण-  
वदुपमानेनोपमेयस्य उत्कर्षो बोध्यते, इह तु उपमानम्  
उपमेयस्य अपकर्षापादकत्वेन स्थितम् इति दूषकताबीजम् ।  
पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६० ॥

उपमानस्य विशेषणकृतं न्यूनत्वमधिकत्वञ्चोदाहरति, सफे-  
नेति ।—फेनपिण्डैः,—फेनराशिभिः, सह वर्तमानः, सफेन-  
पिण्ड, फेनपुञ्जवन्नित इत्यर्थ, प्रौढाः,—प्रवृद्धाः, ऊर्मयः,—  
तरङ्गाः, यस्य तथोक्तः, तरङ्गमालाकुल इत्यर्थः, अब्धिः,—  
समुद्रः, शङ्कभृत्—शङ्कयुक्तः, पत्ने—पाञ्चजन्यपाणिरित्यर्थः,  
शार्ङ्गी इव—कृष्ण इव, वर्तते राजते वेति शेषः ; स्योतन्तः,—  
स्रवन्त, मदाः,—दानजलानि, यस्मात् यस्य वा सः तथोक्तः,  
दानजलस्रावीत्यर्थ, करी—हस्ती, वर्षन्—वृष्टिं कुर्वन्, विद्यु-  
त्वान्—तडित्वान्, वारिदः इव—मेघः इव, राजते इति शेषः ।  
अत्र प्रथमम् उपमेये अञ्चौ “सफेनपिण्डः” “प्रौढोर्मिः” इति  
विशेषणद्वयोपन्यासात् उपमाने शार्ङ्गीणि “शङ्कभृत्” इत्येकविशे-  
षणकृतं न्यूनत्वम् इति हीनविशेषणत्वम् ; परत्र “स्योतन्मदः”  
इत्येकविशेषणकस्य उपमेयस्य करिणः उपमाने वारिदे “वर्षन्”  
“विद्युत्वान्” इति विशेषणद्वयोपन्यासात् विशेषणाधिक्यञ्चेति  
उपमानोपमेययोः परस्परगतं सादृश्यमनिर्वाह्यत् उपमाया  
दोषपदवीमारोहति ; वस्तुतस्तु निरर्थकोऽनुचित एव वा  
विशेषणाङ्गम्बरोऽयमिति बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६१ ॥

रि-  
अकृत-विम

भिन्नलिङ्गमुपमानमुदाहरति,—

मुखं चन्द्रमिवालीक्य देवाह्लादकरं तव ।

कुमुदन्ति सुदाऽक्षीणि क्षीणमिथ्यात्वसम्पदाम् ॥ ६२ ॥

समासे लिङ्गभेदस्य अदीषत्वमुदाहरति,—

निजजीवितेशंकरजाग्रत-

क्षतपङ्क्तयः शुशुभिरं सुरते ।

कदाचित् लिङ्गभेदस्यापि अनुद्वेजकतया नोपमादूषकत्व-  
मित्युक्तं, सम्प्रति तदेवोदाहरति, मुखमिति ।—हे देव ।—  
राजन्, चन्द्रम् इव—सुधाकरमिव, आह्लादकरम्—आनन्द-  
जनक, तव मुखं—वदनम्, आलीक्य—दृष्ट्वा, क्षीणा—नष्टा,  
मिथ्यात्वस्य—असत्यतायाः, अलीकभावस्येत्यर्थः, सम्पद—  
उत्कर्षः, ज्ञानम् इति यावत्, येषां तथाभूतानां, तत्त्वदर्शिना-  
मित्यर्थः, पुंसाम् इति शेषः, अक्षीणि—नयनानि, सुदा—हर्षेण,  
कुमुदन्ति—कुमुदानि इव आचरन्ति । चन्द्रसम्पर्केण यथा  
कुमुदानि विकसन्ति तथा तव वदनसम्पर्कात् लोकानां कुमुद-  
सदृशनयनान्यपि इति देवस्य वदनं चन्द्रं इवेति ज्ञानस्य  
शङ्कितं मिथ्यात्वम् अक्षिकुमुदविकीर्सेन निरस्तम् इति भावः ।  
अत्र मुखस्योपमेयस्य क्लीवलिङ्गतया चन्द्रस्योपमानस्य पुंलिङ्ग-  
तया च तदुभयोः उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदेऽपि उभय-  
विशेषणीभूतस्य आह्लादकरमित्यस्य द्वितीयैकवचनान्तत्वे  
लिङ्गभेदप्रत्यायकस्य रूपभेदस्यासत्त्वेन उपमा अदृष्टैवेति  
बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६२ ॥

लिङ्गभेदेऽपि प्रकारान्तरेण समासे उपमादोषप्रतिप्रसव-  
मुदाहरति, निजिति ।—सरोजे—पङ्कजे इव, मनोरमे इति  
भावः, दृशौ—नयने यस्याः तथोक्तायाः सरोजदृशः,—पद्माद्याः  
इत्यर्थः, सुरते—कान्तसङ्गमे, निजजीवितेशस्य—निजप्राण-

कुपितस्मरप्रहितवाग्गण-

व्रणजर्जरा इव सरोजदृशः ॥ ६३ ॥

विभिन्नलिङ्ग रूपकमुदाहरति,—

हस्ताग्रविन्ध्यस्तकपोलदेशा

मिश्रोभिलत्कङ्कणकुण्डलश्रीः ।

नाथस्य, स्वकीयकान्तस्येत्यर्थे, करजाग्रैः—नखाग्रैः, क्षतानां—  
जनितानां, क्षतानां—व्रणानां, पङ्क्तयः,—श्रेण्य', कुपितेन—  
क्रुद्धेन, स्मरेण—कामेन, प्रहिताः,—प्रेपिताः, निचिप्ता इति  
यावत्, ये वाग्गणाः,—शरसमूहाः, तैः व्रणानां—क्षतानां,  
जर्जराः इव—चिह्नानि इव, शुशुभिरै—राजन्ते स्म । अत्र  
“सरोजदृशः” इत्यत्रोपमानवाचकस्य सरोजशब्दस्य स्त्रीत्वम्,  
उपमेयवाचकस्य “दृशः” इत्यस्य स्त्रीत्वमिति समासगता भिन्न-  
लिङ्गता, एवम् उत्प्रेक्षासूत्रोपमायां क्षतपङ्क्तिरूपोपमेयस्य  
स्त्रीलिङ्गतया, तथा व्रणजर्जररूपोपमानस्य च पुलिङ्गतया  
उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदेऽपि उभयोः प्रथमाबहुवचनान्तत्वेन  
लिङ्गभेदप्रत्यायकस्य रूपभेदस्य असत्त्वादियम् उपमा अदुष्टैव ।  
श्लोकेऽस्मिन् पुलिङ्गस्त्रीलिङ्गयोर्बहुवचनैक्य, पूर्वत्र तु नपुंसक-  
पुलिङ्गयोरैकवचनैक्यम् इति पूर्वस्माद् विशेषः । प्रसिताक्षरा  
वृत्तम्,—तल्लक्षणं यथा,—“प्रसिताक्षरा, सजससैः कथिता”  
इति ॥ ६३ ॥

न केवलमुपमायामिव लिङ्गभेदकृतदोषस्यैवं प्रतिप्रसवः,  
किन्तु अन्यत्राप्यतो रूपकेऽपि लिङ्गवचनभेदजदोषप्रतिप्रसव-  
मुदाहरति, हस्तोति ।—अवश्य',—अवशङ्कतः, नाथः,—पतिः,  
यस्याः सा, अनायत्तीकृतपतिका इत्यर्थः, काचित्—कापि  
कान्ता इत्यर्थः, हस्तस्य—करस्य, अग्रे—पुरोभागे, करतले,  
इत्यर्थः, विन्ध्यस्तः,—अर्पितः, कपोलदेशः,—गण्डस्थलं, यथा



सिषेच नेत्रस्रवदशुधारे-

दोःकन्दलीं काचिदवश्यनाथा ॥ ६४ ॥

भिन्नलिङ्गा प्रतिवस्तूपमासुदाहरति,—

बहुवीरेऽप्यसावेकी यदुवंशेऽद्भुतीऽभवत् ।

किं केतक्यां दलानि स्युः सुरभीण्यखिलान्यपि ? ॥ ६५ ॥

तथोक्ता, करतलस्थापितगण्डस्थलेत्यर्थः, अत एव मिथः,—  
परस्परं, मिलन्ती—सङ्गच्छमाना, करकर्णयोरतिसामीप्यादिति  
भावः, कङ्कणकुण्डलयोः,—हस्तालङ्कार-कर्णालङ्कारयोः, श्रीः,  
—शोभा, यस्याः तथाभूता सती, 'नेत्राभ्यां—नयनाभ्याम्,  
( प्रमो ) स्रवद्भिः,—क्षरद्भिः, अश्रूणां—नयनजलानां, धारैः,—  
धाराभिः इत्यर्थः, दोः,—भुजः एव, कन्दली—लताविशेषः,  
ता, दोःकन्दलीं,—भुजकन्दलीलताम् इत्यर्थः, सिषेच—अभि-  
षिक्तवती । अत्र “दोःकन्दली” इत्यत्र रूपके उपमेयीभूतः  
दोःशब्दः पुंलिङ्गः, उपमानीभूतः कन्दलीशब्दः स्त्रीलिङ्गः,  
इत्यनयोर्लिङ्गभेदेऽपि साम्यस्य तदुभयामेदाध्यवसायमूलतया  
बोधाद्दोषः । इन्द्रवज्रापेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ६४ ॥

प्रतिवस्तूपमायां लिङ्गभेदकृतदोषस्य प्रतिप्रसव दर्शयति,  
बद्धिति ।—बहवः,—अनेके, वीराः,—ख्यातविक्रमाः शूराः,  
यत्र तादृशे, अपि, यदुवंशे—यादवकुले, असौ—कृष्णः, एकः,  
—केवलः, कृष्ण एवेत्यर्थः, अद्भुतः,—अलौकिकवीरत्वसम्पन्न  
इत्यर्थः, अभवत्—अजायत ; तथा हि, केतक्यां—केतकौ-  
लतायाम्, अखिलानि—समग्राणि, अपि दलानि—पत्राणि,  
किं सुरभीणि—सुगन्धोनि, स्युः ?—भवेयु ? नैव इत्यर्थः । अत्र  
उपमेयभूतस्य यदुवंशस्य पुंस्त्वम्, उपमानभूतायाः केतक्यास्तु  
स्त्रीलिङ्गत्वमिति ; तथा उपमेयभूतानां वीराणां पुंलिङ्गत्वम्,  
उपमानभूतानां दलानान्तु स्त्रीलिङ्गत्वम् इति ; तथा उपमेयभूत

• रूपकमाह,—

रूपकं यत्र साधर्म्यादर्थयोरभिदा भवेत् ।

समस्तं वाऽसमस्तं वा खण्डं वाऽखण्डमेव वा ॥६६॥

समस्तमखण्ड रूपकमुदाहरति,—

कीर्णान्धकारालकराजमाना

निबद्धतारास्थिमणिः कुतोऽपि ।

एकः पुलिङ्गः, किमपि एकमेव सुरभितं भवतीति व्यञ्जमानं  
वस्तु क्लौवल्लिङ्गमित्यनेकधा लिङ्गभेदोऽपि वक्ष्यमाणप्रतिवस्तूप-  
मायाः प्रकृतार्थाविघटकतया न कञ्चिद्दोषमावहति इति  
बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६५ ॥

सप्रभेद रूपक लक्षयति, रूपकमिति ।—यत्र—यस्मिन् अल-  
ङ्कारे, साधर्म्यात्—साधारणधर्ममाश्रित्येत्यर्थ, अर्थयोः,—  
उपमानोपमेयगतयोः प्रतिपाद्यवस्तुजोः, अभिदा—अभेदः,  
तादात्म्यपर्यवसानमुपमानोपमेयगतैकात्मकत्वबुद्धिरिति यावत्,  
भवेत्—स्यात्, तत् रूपकं—रूपकनामालङ्कारः; अन्योऽन्यसाध-  
र्म्यास्य सर्वथा गम्यत्वे हि रूपक, वाच्यत्वे तु न तथा, तत्तूपमे-  
वेति फलितम् । तत् च रूपकं समस्त—समासाघटितं वा,  
असमस्तं—समासाघटितत्वेन तद्भिन्नं व्यस्तमिति वा, इति  
द्विधा, तदपि समस्तमसमस्तं वा रूपक खण्ड—केवलं, निर-  
ङ्गम् इत्यर्थः, अखण्ड—पूर्णं, साङ्गम् इत्यर्थः, तदेव समुदायेन  
चतुर्विध रूपकम् इत्याशयः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ६६ ॥

समस्तम् अखण्ड रूपकम् उदाहरति, कीर्णैति ।—कीर्णाः,  
—परितः विस्तीर्णाः, अन्धकाराः,—तमांसि, एव अन्तकाः,  
—चूर्णकुन्तलाः, तैः राजमाना—शोभमाना, [ “राजमाना”  
इत्यत्र “शालमाना” इति पाठान्तरे—शालतेः शोभार्थकत्वेना-

निशापिशाची व्यचरदधाना

महान्त्युनूकध्वनिफेल्कृतानि ॥ ६७ ॥

असमस्तमखण्डं रूपकमुदाहरति,—

संसार एव कूपः सलिलानि विपत्तिजन्मदुःखानि ।

द्रह धर्म एव रज्जुस्तस्मादुद्धरति निर्मग्नान् ॥ ६८ ॥

तापि स एवार्थः ] निबद्धा,—सर्वास्वाशासु विशेषतो विलग्नाः व्यक्तीभूतत्व गताः इति यावत्, ताराः तारकाः एव अस्थिमणयः स्वगलविलग्नास्थिरूपरत्नविशेषाः 'यस्याः तादृशी, यद्वा,—मालाकारिण परिहिता, तारा',—नक्षत्राणि, एवं अस्थीनि—कङ्कालाः, तानि एव मणयः,—मुक्ताफलवज्रादिमणयः इत्यर्थः, यया तादृशी, महान्ति—सताराणि, उच्चैरित्यर्थः, उलूकाना—पेचकाना, ध्वनयः,—रवा एव, फेल्कृतानि—फेदित्याकारकाः अव्यक्तविक्रताः चीत्काराः, तानि दधाना—धारयन्ती कुर्वती-त्यर्थः, निशा—रात्रिः एव, पिशाची—पिशाचाख्यदेवयोनि-विशेषस्य अङ्गना, कुतः अपि—कस्मात् अपि, अविदितप्रदेशा-दित्यर्थः, आगत्य इति शेषः, व्यचरत्—विचरति स्म, परिवभ्राम इत्यर्थः । अत्र कालिमसाम्यात् कुन्तलैरन्धकारस्य, शुक्लभास्वर-वर्तुलतादिमाम्यात् मणिभिस्तारकाणां, भयङ्करभीषकत्वादि-साधर्म्यात् पिशाचाङ्गनया निशायाः, कार्कश्यामङ्गलव्यञ्जक-तादिसाम्यात् फेल्कारैरुल्करवाणाम्, अभेदाध्यवसानम् ; तच्च सर्वं समासान्तर्गतम् इति समस्तमखण्डं रूपकमिदम् । इन्द्र-वज्रोपेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ६७ ॥

असमस्तम् अखण्डं रूपकम् उदाहरति, संसार इति ।—संसारः,—विश्वः, एव कूपः,—जलाशयविशेषः, प्रतिभाति इति शेषः ; यतो हि, द्रह—अस्मिन् संसारकूपे, विपत्तिजन्मदुःखानि—विपत्तेः,—आपदः, जन्म—उत्पत्तिः, येषां तानि, तथा-

समस्तं खण्डरूपकमुदाहरति,—

अधरं मुखेन नयनेन रुचिं  
सुरभित्वमाञ्जमिव नासिकया ।  
नववर्णिनीवदनचन्द्रमस-  
स्तरुणा रसेन युगपन्निपपुः ॥ ६६ ॥

विधानि दुःखानि, आपदुद्भूतकष्टानीत्यर्थः, अथवा—विपत्तिः,  
—आपद्, जन्म—पुनरुद्भवः, दुःख—नानाप्रकारकष्टं, तेषा  
हृन्द्, तानि एव, सलिलानि—जलानि, अत्र सन्तीति शेषः,  
निमग्नान्—बुडितान्, निमज्जितान् इत्यर्थः, जनानिति शेषः,  
धर्मः,—सुकृतम्, एव रज्जुः,—गुणः, तस्मात्—संसारकूपादि-  
त्यर्थः, उद्धरति—उत्तोलयति, रक्षतीति यावत् । अत्र दुरव-  
गाहदुर्बोधतादिसाधर्म्यात् कूपसंसारयोः, अनियतत्वचाञ्च-  
ल्याशुविनाशित्वादिसाधर्म्यात् सलिलदुःखयोः, पतितोच्चारणार्ह-  
त्वादिसाधर्म्यात् धर्मरज्ज्वोरभेदाध्यवसान, तच्च असमासकृतम्  
इति असमस्तम् अखण्ड रूपकमिदम् । आर्या वृत्तम् ॥ ६६ ॥

समस्तं खण्डं रूपकम् उदाहरति, अधरमिति ।—तरुणा,  
—युवानः, रसेन—रागातिभरेण, सातिशयप्रीतिपरवशतये-  
त्यर्थः, नववर्णिनीवदनचन्द्रमसः,—नवोद्गायाः वरवर्णिन्याः  
कान्तायाः मुखचन्द्रस्य, [ “नवकामिजीवदनचन्द्रमसः” इति  
पाठान्तरेऽपि अयमेवार्थः ] अधरम्—ओष्ठाधोदेशः, मुखेन—  
वदनेन, रुचिं—कान्ति, नयनेन—नेत्रेण, आञ्जम् इव—पद्म-  
समुत्थम् इव, कमलसम्बन्धीत्यर्थः, [ अञ्जमिति पाठे तु—अञ्ज-  
पदमत्राञ्जगतत्वे लाक्षणिकम् अञ्जसम्बन्धीत्यर्थः, सौरभसौकुमा-  
र्यातिशयप्रत्यायनार्थमुपन्यस्तमिच्यवधेयम् ] सुरभित्व—सौर-  
भम्, घ्राणतर्पणम् इष्टगन्धमिति यावत्, नासिकयां—घ्राणन्दि-  
येण, युगपत्—समकाल, निपपुः,—निःशेष यथा तथा पिवन्ति

खण्डमसमस्त रूपकमुदाहरति,—

ज्योत्स्नया धवलीकुर्वन्नुर्वीं सकुलपर्वताम् ।

निशाविलासकमलमुदेति स्म निशाकरः ॥ ७० ॥

स्म । अत्र उपमेयस्य वदनस्य उपमानेन चन्द्रमसा सह आच्चादकत्वादिसाधर्म्येण अभेदाध्यवसानात् रूपकम्; तच्च, उपमेयस्य वदनस्य “अधरं मुखेन” “नयनेन रुचिम्” इत्यादिना अनेके धर्माः स्पष्ट प्रतिपादिताः, उपमानस्य चन्द्रमसस्तु न तथा कश्चित् धर्मः प्रतिपादितः, इति समस्तं खण्डरूपकम् । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ॥ ६९ ॥

खण्डमसमस्तं रूपकम् उदाहरति, ज्योत्स्नयेति ।— निशायाः,—रात्रेः, विलासाय—क्रीडार्थं, कमलं—पद्ममेव, लीलापद्मभूतः इत्यर्थः, निशाकरः,—चन्द्रः, ज्योत्स्नया—चन्द्रिकया, सकुलपर्वतां—कुलपर्वतैः,—महेन्द्रादिभिरचलैः, सहिताम्; ( कुलपर्वताञ्चोक्ताः कोषेषु “महेन्द्रो मलयः सद्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः । विन्ध्यश्च पारिपात्रश्च सप्तैते कुलपर्वता.” इति ) उर्वीं—पृथ्वीं, धवलीकुर्वन्—शुभ्रतामापादयन्, उदेति स्म—उदियाय । अत्र स्वभावधवलत्वचित्तविनोदकत्वादिसाम्यात् निशाविलासकमलेनोपमानेन साहचं चन्द्रस्य उपमेयभूतस्य अभेदाध्यवसानं, तच्चासमासकृतमिति असमस्त, सकलस्यैव निशाकरस्योपमेयस्यात्र उपमानेन साहचं सर्वथा न सादृश्यमाकाङ्क्षितं किन्त्वाकारमात्रेणैवात एतत् प्रतिपादनादिदं खण्डरूपकम् उपमानोपमेययो लिङ्गभेदेनोपन्यामात् न सदोषमेवेति बोध्यम्, अत्र तु सामाजिकानां साम्यावबोधे कस्याप्यङ्गेगस्याजायमानत्वात्, लिङ्गवचनादिभेदनिबन्धाना दोषाणा हि सभ्यानां साम्यग्रहणोद्देशकारित्वे एव दूषकता स्वीकारादिति चिन्तनीयम् । पथ्यावक्तव्यं वृत्तम् ॥ ७० ॥

प्रतिवस्तूपमामाह,—

अनुपात्ताविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।

यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ ७१ ॥

प्रतिवस्तूपमीदाहरणम्,—

बहुवीरेऽप्यसावेको यदुवशेऽद्भुतोऽभवत् ।

किं केतव्या दलानि स्युः सुरभीष्यखिलान्यपि ? ॥ ७२ ॥

भ्रान्तिमन्तमाह,—

वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

निश्चयो यत्र जायेत भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा ॥ ७३ ॥

सम्प्रति प्रतिवस्तूपमा लक्षयति, अनुपात्ताविति ।—यत्र—  
यस्मिन् अलङ्कारे, इवादीना—साधर्म्यद्योतकानामिवयथादि-  
शब्दानाम्, अनुपात्तौ—अनुपादाने सति, वस्तुनः,—प्रकृतस्य  
अर्थस्य, उपमेयस्येत्यर्थं, प्रतिवस्तुना—अप्रकृतेन अर्थेन, अप्रा-  
सङ्गिकोपमानेनेत्यर्थं, साम्यं—सम्यग्, प्रतीयते—अवबुध्यते,  
सा तु—नैवेत्यर्थं, प्रतिवस्तूपमा—प्रतिवस्तूपमानामालङ्कारः,  
कथ्यते इति शेषः । पथ्यावक्तव्यं ॥ ७१ ॥

उक्तामिव प्रतिवस्तूपमाम् उदाहरति, बहुवीरे इति ।—  
[ ६५ न श्लोके व्याख्या द्रष्टव्या ] । अत्र इवादीनाम् अनुपादाने  
अपि यदुवशस्य प्रकृतस्य प्रतिवस्तुभूतया केतव्या, तथाभूताना  
वीराणां तथाभूतैः तद्गुणैः, अमुष्मिन्नेकस्मिन्नेव वीरे अद्भुतत्वस्य,  
सुरभित्वेन सह साम्यप्रतीतिः प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारः । पथ्यावक्तव्यं  
वृत्तम् ॥ ७२ ॥

इदानीं भ्रान्तिमन्तमलङ्कारं लक्षयति, वस्तुनीति ।—यत्र  
—यस्मिन् अलङ्कारे, अन्यत्र—अन्यस्मिन्, कुत्र अपि—कस्मि-  
न्नपि, अतथाभूतेऽपि इत्यर्थं, वस्तुनि—पदार्थं, तत्तुल्यस्य—तत्  
सदृशस्य, अन्यवस्तुनः,—पदार्थान्तरस्य, निश्चयः,—तदात्मकत्वः ।

भ्रान्तिमत उदाहरणम्,—

हेमकमलंति वञ्चणे  
 णञ्चणे शिलुप्पलंति पसुञ्चि ! ।  
 कुसुमंति तुह्य हसिए  
 णिवंडति भमराणं रिंछोली ॥७४॥

आक्षेपमाह,—

उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा प्रतिषेधस्य जायते ।

आचक्षते तमाक्षेपमलङ्कारं बुधा यथा ॥७५॥

प्रतीतिः, जायते, स भ्रान्तिमान् 'स्रुतः,—कथितः । तत्र उदाहरणं यथा हेमेत्यादि । पथ्यावक्तव्यम् ।

प्राकृते काव्ये भ्रान्तिमन्तन् उदाहरति, हेमेति ।—[“हेमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ! कुसुममिति तव हसिते निपतति भ्रमराणा श्रेणी ॥” इति सस्कृतम् ] कामपि कान्ता प्रति कस्यचित् कामिनः उक्तिरियम् । हे प्रसृताक्षि !—आयतलोचने ।, तव वदने—मुखे, हेमकमल—स्वर्णपद्मम्, इति, नयने—लोचने, नीलोत्पल—नीलकमलम्, इति, हसिते—हासे, कुसुमं—पुष्पम्, इति मत्वा इति शेषः, भ्रमराणा श्रेणी—पङ्क्ति, निपतति—त्वद्वदन प्रति धावति इत्यर्थः । अत्र भ्रमराणा कान्तामुखादौ, स्वर्णकमलादितुल्यतया, तद्भिन्नाना स्वर्णकमलादीना प्रतीतिः ; इति अतस्मिन् वस्तुनि तद्वत्ताबुद्धेरुदयात् भ्रान्तिमान् अलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

आक्षेपं लक्षयति, उक्तिरिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, प्रतिषेधस्य—निषेधस्य, उक्ति, —कथन, वा—यद्वा, प्रतीतिः,—प्रत्ययः, जायते, बुधाः,—अलङ्कारिकाः, तम् आक्षेपम् अलङ्कार, यथा—तत्त्वेन, आचक्षते—आहुः, यद्वा,—त च यथा

प्रतिषेधोक्तिमूलकाच्चेपस्य उदाहरणम्,—

इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-  
रैरावतेन किमहो ! यदि तद्विपेन्द्रः ।

दम्भोलिनाप्यलमयं यदि तत्प्रतापः

स्वर्गोऽप्ययं ननु मुघा यदि तत्पुरी सा ॥ ७६ ॥

प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाच्चेपस्य उदाहरणम्,—

यस्यास्ति नरकाक्रोडनिवासरसिकं मनः ।

सोऽस्तु हंसाऽनृतस्त्रेयतत्परः सुतरां जनः ॥७७॥

इत्यग्रिमेणान्वति, [ निषेधस्य जुवाचित् साक्षादभिधान कुत्र-  
चित् साक्षादनभिधानमिति निषेधस्य वाच्यत्वे गम्यत्वेऽपि चाय-  
मन्तङ्कार भवतीति भाव्यम् ] । पथ्यावक्तव्यं हत्तम् ॥ ७५ ॥

प्रतिषेधमूलमाच्चेपम् उदाहरति, इन्द्रेणेति ।—यदि सः कर्ण-  
नरेन्द्रसूनुः,—कर्णस्य—तदास्यस्य, नरेन्द्रस्य—राज्ञः, सूनु,—  
पुत्र, जयसिंहदेव. इत्यर्थः, भवति इति शेषः, तदा इन्द्रेण—  
देवराजेन, किम् ?—न किम् अपि प्रयोजनम् इत्यर्थः । यदि  
तस्य—जयसिंहदेवस्य, विपेन्द्रः,—गजेन्द्रः, अस्ति इति शेषः,  
अहो !—आश्चर्य्यं, तदा ऐरावतेन किम् ?—न किम् अपि  
प्रयोजनम् इत्यर्थः । यदि अयं तस्य—देवस्य, प्रतापः, अस्ति  
इति शेषः, तदा दम्भोलिना अपि—वज्रेण अपि, अलम् ?—किम्  
इत्यर्थः ; वज्र निष्फलम् इति भावः ; यदि सा तस्य पुरी—  
नगरी, अस्ति इति शेषः, ननु !—भोः !, तदा अयं स्वर्गः, अपि  
मुघा—सिन्ध्या, निरर्थकः इत्यर्थः । महीजसश्चास्य राज्ञः तत्त-  
त्कार्यकारित्वेन सर्वेषामध्येतेषामिन्द्रादीना निरर्थकत्वम् इति  
फलितम् । अत्र इन्द्रादीना प्रतिषेधः । वसन्ततिलकं हत्तम् ॥७६॥

प्रतीतिमूलमुदाहरति, यस्येति ।—यस्य मनः,—चित्तः,



प्रतिषेधप्रतीतिमूलकाच्चेपस्य प्राक्ततकाव्यस्यमन्वदुदाहरणम्,—

इच्छन्ति ये ण कित्तिं

कुणन्ति करुणाकणंवि जे शेब्ब ।

ते धणंजक्ख व्व णारा

दिंति धणं मरणसमये वि ॥ ७८ ॥

नरकस्य—निरयस्य, क्रोडे—अङ्गे, निवास,—स्थितिः, तत्र रसिकं—प्रणयि इत्यर्थ, अस्ति—भवति, स जनः सुतराम्—अतिशयेन, हिंसानृतस्तेयेषु—हननकर्ममिथ्यावादचौर्यादिव्यापारेषु, तत्परः,—निरतः, अस्तु—भवतु ; यस्तु न तथा, कथमहो एवविधे विगीते अध्वनि पदमादधाति तत्तु न जानीमः इति कवेरभिप्रायः । अत्र नरकनिवासमभीप्सुनैव पुरुषेण हिंसादिक विधातव्य, धार्मिकेण तु नेति भङ्गा हिंसादिक न कर्तव्यम् इति निषेधप्रत्यायनादिति निषेधप्रतीति मूलकोऽयमाच्चेपालङ्कारः । पथ्यावत्तं वृत्तम् ॥ ७७ ॥

प्राक्तते काव्येऽपि स्थितम् आच्चेपम् उदाहरति, इच्छन्तीति । —[ “इच्छन्ति ये न कीर्त्तिं कुर्वन्ति करुणाकणमपि ये नैव । ते धनयत्ता इव नरा ददति धन मरणसमयेऽपि ॥” इति संस्कृतम् ] ये नराः कीर्त्तिं—यशः, न इच्छन्ति—न काङ्क्षन्ति, तथा करुणाकणम् अपि—दयालेशम् अपि, नैव कुर्वन्ति, दीनेष्विति शेषः, ते धनयत्ताः इव—धनरक्षकदेवयोनिविशेषाः इव, मरणसमये अपि—मरणसमये एव इत्यर्थः, धन ददति—धन परित्यज्य गच्छन्ति इति ; स्वस्यान्तिमा दशामुपस्थितामाज्ञाय कथञ्चित् वैराग्यात् चिरसञ्चित वद्धायासोपलब्ध तादृश वित्तजातमनवसरे अपात्रेऽपि विन्यस्यन्ति, आत्मनि उपभोगाच्चमत्वदर्शनात् हेयताबुद्धेरुदयादिति भावः । अत्र मरणसमये

• सशयमाह,—

इदमेतद्दिदं वेति साम्याद् बुद्धिर्हि संशयः ।

हेतुभिर्निश्चयः सोऽपि निश्चयान्तः स्मृतो यथा ॥७६॥

शुद्धसशयोदाहरणम्,—

किं केशपाशः प्रतिपन्नलक्ष्म्याः ?

किं वा प्रतापानलधूम एषः ।

दृष्ट्वा भवत्पाणिगलं कृपाण-

मेवं कवीनां मतयः स्फुरन्ति ॥ ८० ॥

धनदानं कुर्वन्तः कीर्त्तिमकामयमानाः निष्करुणाः पुरुषाः  
जीवद्दशासु धनानि तीर्थेषु न वितरन्ति इति निषेधः प्रतीयते  
इति आक्षेपः । आर्या वृत्तम् ॥ ७८ ॥

सशय लक्षयति, इदम् इति ।—इदम् एतत्, इदं वा, इत्येवम्  
एकस्मिन् धर्मिणि भावाभावरूपविरुद्धधर्महयाध्यासे सतीत्यर्थः,  
या, हि बुद्धिः,—उभयकोट्यवगाहिनौ धीः, साम्यात्—सादृ-  
श्यात्, साधारणधर्मादिरसाधारणधर्मादेश्चेति शेषः, सशयः,—  
तदाख्यः अलङ्कारः, भवति, तथाविधबुद्धिरेव इति शेषः ; स,—  
सशयः, अपि—एव, हेतुभिः,—कारणैः, निश्चयः,—निश्चया-  
त्मना परिणतः, निश्चयान्तः,—निश्चयः अन्ते यस्य तादृशः,  
उक्तकैककोटिकरूपत्वात् तस्येति भावः, यथा—तत्त्वेन, स्मृत ;  
यद्वा,—यथेति उदाहरण निर्देष्टुमुपन्यस्तम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

तत्र शुद्धं संशयम् उदाहरति, किमिति ।— हे राजन् ।  
भवतः पाणिगत—हस्तस्थ, कृपाण—करवालं, दृष्ट्वा कवीनां  
मतयः,—बुद्ध्य, एवं स्फुरन्ति—समुद्दयन्ति इति भावः ।  
किम् प्रकारः ? इत्याह, किमिति ।—एषः प्रतिपन्नस्य—शत्रो,

निश्चयान्तसशयीदाहरणम्,—

इन्द्रः स एष यदि किं न सहस्रमच्छां  
लक्ष्मीपतिर्यदि कथं न चतुर्भुजोऽसौ ? ।  
आः ! स्यन्दनध्वजधृतोद्दुरताम्रचूडः  
श्रीकर्णदेवनृपसूनुरयं रणाग्रे ॥ ८१ ॥

दृष्टान्तमाह,—

अन्वयख्यापनं यत्र क्रियया स्व-तदन्ययोः ।  
तं दृष्टान्तमिति प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥ ८२ ॥

लक्ष्म्याः,—श्रियाः, केशपाशः,—केशसमूहः, किम् ? एषः  
प्रतापानलस्य—प्रतापाग्नेः, धूमः किं वा ? अत्र विरोधि-  
कोटिद्वयस्य तुल्यबलतया सत्त्वात्, इदमेवेति सिद्धान्तानुदयात्  
शुद्धसंशयालङ्कारोऽयम् । इन्द्रवजा वृत्तम् ।

निश्चयान्तं तमेव उदाहरति, इन्द्र इति ।—एषः सः इन्द्रः  
यदि, भवति इति शेषः, तदा अच्छां—नेत्राणां, सहस्र किं न ?  
अस्ति इति शेषः, ततश्च नायम् इन्द्र इति निश्चयः । यदि  
असौ लक्ष्मीपतिः,—विष्णुः, ततः कथं चतुर्भुजः न ? ततश्च  
न अयं विष्णुः इति भावः । आः !,—[इति अश्रय] ज्ञातम्  
इत्यर्थे, अयं रणाग्रे—रुग्रामस्य पुरतः, स्यन्दनस्य—रथस्य, ध्वजे  
—चूडाया, धृतः,—निहित, उद्दुरः,—उत्कटः, ताम्रचूडः,  
—कुक्कुटः, येन तथाभूतः, श्रीकर्णदेवनृपस्य सूनुः,—पुत्रः,  
राजते इति शेष । अत्र उपन्यस्तहेतुभिः संशयस्य कथञ्चित्  
निरासेन उत्कटैककोटिकतया सस्थितेः निश्चयान्तः सशया-  
लङ्कार । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ७८—८१ ॥

दृष्टान्तं लक्षयति, अन्वयेति ।—यत्र—अलङ्कारे, क्रियया  
—अन्योऽन्यव्यापारेण, स्व तदन्ययोः,—स्वस्य—प्रकृतस्य,

उदाहरणम्,—

पतितानां संसर्गं त्यजन्तु दूरेण निर्मला गुणिनः ।

इति कथयन् जरतीनां हारः परिहरति कुचयुगलम् ॥ ८३ ॥

व्यतिरेकमाह,—

केनचिद् यत्र धर्मेण द्वयोः संसिद्धसाम्ययोः ।

भवत्येकतराधिक्यं व्यतिरेकः स उच्यते ॥ ८४ ॥

तदन्यस्य च—अप्रकृतस्य • च, • अन्वयख्यापन—तुल्यकार्य-  
कारित्वरूपसम्बन्धप्रतीतिः, • स्यादिति शेषः, इति—अनया  
रीत्या, त दृष्टान्तम् अलङ्कारं, मनोषिणः,—विदांसः, प्राहुः,—  
कथयन्ति । पथावक्तं वृत्तम् ॥ ८२ ॥

उदाहरति, पतितानामिति ।—निर्मलाः,—स्वच्छाः, निर्दो-  
षाश्च ; गुणिनः,—साधवः, सूत्रगुम्फिताश्च ; पतिताना—पापिनां,  
श्रियिलतया पतनोन्मुखानाञ्च ; संसर्गं—सम्मेलनं, दूरेण—  
दूरादेव इत्यर्थः, त्यजन्तु—परिहरन्तु, इति कथयन्—ख्यापयन्,  
जरतीना—स्थविराणा नारीणां, हारः,—मणिमयकण्ठभूषण,  
कुचयुगलं,—स्तनयुग्म, परिहरति—परित्यजति । अत्र जर-  
तीनां स्तनयोः पतितत्वात् तत्र गुणवान् हारो न शोभते  
इति भावः ; अत्र पतितसंसर्गपरिहाररूपैकक्रियया अप्राकर-  
णिकाना गुणिना, प्राकरणिकैः मणिहारैः सह साम्यं प्रतीयते,  
इति दृष्टान्तः । आर्या वृत्तम् ॥ ८३ ॥

व्यतिरेक लक्षयति, केनचिदिति ।—यत्र—अलङ्कारे, केन-  
चित् धर्मेण—स्वाभिप्रायानुरूपीत्कर्षविधायकेन गुणक्रियादि-  
रूपेणेत्यर्थः, संसिद्ध—सिद्धान्तितम्, अनुकूलप्रमाणादिभि सर्व-  
स्मिन् लोके व्यवहारे च प्रसिद्धिं गतमित्यर्थः, साम्य—सादृश्य,  
ययोः तथाभूतयोः, द्वयोः,—उपमानोपमेययोः इत्यर्थः,  
एकतरस्य—उपमानस्य, उपमेयस्य वा इति भावः, आधिक्यं

उदाहरणम्,— ८

अस्वस्तु पौरुषगुणाज्जयसिंहदेव-  
पृथ्वीपतेर्मृगपतेश्च समानभावः ।  
किन्त्वेकतः प्रतिभटाः समरं विहाय  
सद्यो विशन्ति वनमन्यमशङ्कमानाः ॥ ८५ ॥

अपङ्कृतिमाह,—

नैतदेतदिदं ह्येतदित्यपङ्कवपूर्वकम् ।

उच्यते यत्र सादृश्यादपङ्कृतिरियं यथा ॥ ८६ ॥

भवति—अधिकगुणयोगादुत्कर्षविधानं स्यात्, स व्यतिरेकः  
उच्यते । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८४ ॥

उदाहरति, अस्त्विति ।—जयसिंहदेवपृथ्वीपतेः,—राज्ञः  
जयसिंहदेवस्य, मृगपतेः,—सिंहस्य, च, पौरुषगुणात्—परा  
क्रमप्रभावादिगुणसमुदाययोगात्, समानभावः,—सास्यम्, अस्तु  
अस्तु—भवतु भवतु, किन्तु एकतः,—एकस्मात् राज्ञः जयसिंह-  
देवात् बिभ्यतः इति शेषः, प्रतिभटाः,—प्रतिवीराः, समर—  
सङ्ग्राम, विहाय—परित्यज्य, अन्य—सिंहम्, अशङ्कमानाः,—  
अगणयन्तः सन्तः, गहनवनप्रवेशावसरे सिंहादपि भीतिम-  
विचारयन्त इत्यर्थः, सद्यः,—तत्क्षणमेव, वन विशन्ति—  
वनमध्युष्य शङ्कितमात्मान कथञ्चित् विनोदयन्ति इति भावः ।  
अत्र सिंहादपि राज्ञः समरे पौरुषम् अधिकमस्तौति प्रतीयते,  
इति सिंहादप्यस्य राज्ञः शौर्यातिशयप्रकटनादाधिक्यप्रतीतिः  
व्यतिरेकः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

अपङ्कृतिं लक्षयति, नैतदिति ।—यत्र—अलङ्कारे, सादृश्यात्  
—सास्यात्, एतत् एतत् न, एतत् इदं हि—इदम् एव, इति  
अपङ्कवपूर्वक—पूर्वोपन्यस्तप्रतिषेधपूर्वक, प्राक् प्रकृतमेव  
विषयं सर्वथैव निगीर्येत्याशयः, यत्, उच्यते—स्वाभिप्रायसिंह-

उदाहरणम्,—

नैतन्निशायां शितसूच्यभेद्य-

मन्वीकृतालोकनमन्धकारम् ।

निशागमप्रस्थितपञ्चबाण-

सेनासमुत्थापित एष रेणुः ॥ ८७ ॥

मेव विषयं युक्त्या तात्त्विकतया समाधीयते, इयं यथा—तत्त्वेन, अपङ्गुतिः, यद्वा,—अत्रापि यथा इति उदाहरणं निर्देष्टुमेव निर्दिष्टम् । पथ्यावक्तव्यम् ।

अपङ्गुत्यलङ्कारम् उदाहरति, नैतदिति ।—निशासमागम-समुद्दीपितकामस्य सङ्केतसमुत्सुकस्य कस्यचित् कामिन उक्ति-रियम् । निशाया—रात्रौ, शिता—तीक्ष्णा, सूची—भेदक शलाका,तया अभेद्य—भेत्तुम् अशक्यम्, अतिगाढसन्निविष्टत्वात् इति भावः, अनन्धम् अन्ध कृतमनेनेति व्युत्पत्त्या अन्वीकृत—दृष्टिशक्तिहीनीकृतम्, आलोकनं—दर्शनेन्द्रिय, येन तथाभूतम्, एतत्—दृष्ट्यादिप्रतिबन्धकत्वेनानुभूयमानमित्यर्थः, अन्धकार—तिमिरं, न भवति इति शेषः, तर्हि किमेतत् ? इत्याह, निशेति । —एषः,—पुरोवर्ती शितसूच्यभेद्यवस्तुविशेष इत्यर्थः, निशायाः,—रात्रेः, आगमे—प्रारम्भे, प्रस्थितया—सङ्ग्रामार्थं चलितया, पञ्चबाणस्य—कामस्य, सेनया—सैन्येन, समुत्थापितः,—समुत्थितः, चरणाहत्यादिभिरिति भावः, रेणुः,—धूलिः, दृष्टि-विघातकतया तत्त्वेन प्रतीयमानमपि नैतदन्धकारम्, अपि तु कामसेनाचरणसमुत्थापितो धूलिपटलः, कथमन्धयाऽस्य एवमुद्दी-पकत्वमिति भावः । अत्र यथाभूतवस्तुनः अन्धकारस्य प्रतिषेधेन युक्त्या अतथाभूतस्यापि प्रकृतोपयोगितया स्वाभिप्रायसिद्धस्य रेणोः स्थापनात् अपङ्गुतिः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ८६ । ८७ ॥

तुल्ययोगितामाह,—

उपमेयं समीकर्तुमुपमानेन योज्यते ।

तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ॥८८॥

उदाहरणम्,—

तमसा लुप्यमानाना लोकेऽस्मिन् साधुवर्त्मनाम् ।

प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तव च दृश्यते ॥ ८९ ॥

तुल्ययोगितां लक्षयति, उपमेयमिति ।—यत्र,—अलङ्कारे,  
तुल्या—सुसदृशी, उपमानोपमेयगतसास्येन अविषवादिनीत्यर्थः,  
एककाला—एकस्मिन्नेव काले युगपदनुष्ठीयमाना, उभयशक्त्युप-  
बृंहिततया सुमङ्गलित्यर्थः, या क्रिया—प्रकाशनादिरूपेत्यर्थः  
तया, उपमानेन—प्रसिद्धोपमानभूतवस्तुना सह, उपमेय—  
प्राकरणात्मकमुपवर्णनीयं वस्तु, समीकर्तुं—तुल्यगुणक्रियादिभिः  
एकीकर्तुं, योज्यते—अपृथग्भावेनोपन्यस्यते, सा तुल्ययोगिता ।  
पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८८ ॥

उदाहरति, तमसेति ।—है राजन् । ( इति अध्याहार्यम् )  
अस्मिन्—इह, लोके—जगति, तमसा—अन्धकारेण, मोहेन  
चेत्यर्थः, लुप्यमानानाम्—अदर्शनं नीयमानानां, विलुप्तदर्शना-  
नामित्यर्थः, दुर्जनैरनिश कलुषीकृततया विध्वंसं नीयमानानाञ्चे-  
त्यर्थः, साधुवर्त्मना—शोभनानां पथां, सत्यरूपानुशीलितसदा-  
चारपद्धतीनाञ्चेत्यर्थः, प्रकाशनाय—प्रकटनाय, पुनः संस्थापनाय  
चेत्यर्थः, संस्कारणायिति यावत्, भानोः,—सूर्यस्य, तव च—  
भवतश्च, प्रभुता—प्रतापः, सामर्थ्यमित्यर्थः, दृश्यते—लक्ष्यते । अत्र  
“दृश्यते” इति दर्शनरूपया वर्तमानकालया एकयैव क्रियया  
उपमानभूतस्य सूर्यस्य, उपमेयभूतेन राज्ञा सह तमोऽपसारण-  
सन्मार्गप्रकाशनादिरूपैकक्रियाकारितया सादृश्यं प्रतीयते इति  
तुल्ययोगिता । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८९ ॥

• उत्प्रेक्षामाह,—

कल्पना काचिदौचित्याद्यवार्थस्य सतीऽन्यथा ।  
द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ॥६०॥

उदाहरणम्,—

नभस्तले किञ्चिदिव प्रविष्टा-

श्चकाशिरे चन्द्ररुचिप्ररोहाः ।

जगद्गिलित्वा हसतः प्रमोदाद्

दन्ता इव ध्वान्तनिशाचरस्य ॥ ६१ ॥

अवसरप्राप्तामुत्प्रेक्षां लक्षयति, कल्पनेति ।—यत्र—यस्मिन् स्थले, सतः,—विद्यमानस्य, अर्थस्य—वस्तुनः, औचित्यात्—योग्यत्वात्, अन्यथा—अन्यप्रकारा, काचित्—अनिर्दिष्टा, कल्पना—सम्भावना, इवादिभिः,—इव-मन्ये-शब्देप्रभृतिभिः, ( अत्रादिपटलभ्यानि उत्प्रेक्षा द्योतकानि ; यथा,—“मन्ये शब्दे ध्रुवं प्रायो नूनम् इत्येवमादयः । उत्प्रेक्षावाचकाः शब्दा इव-शब्दोऽपि तादृशः ॥”इति) शब्दैः,—पदैः, द्योतिता—व्यञ्जिता, अभिहितेति यावत्, सा उत्प्रेक्षा—तदाख्योऽलङ्कारः, यथा—तत्त्वेन, स्मृता—कथिता ; यद्वा,—यथा इति उदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावक्तव्यं वृत्तम् ।

तामेवोत्प्रेक्षामुदाहरति, नभस्तले इति ।—नभस्तले—आकाशे, किञ्चित् इव—ईषन्मात्रमिव, प्रविष्टाः,—उदिताः इत्यथ, चन्द्रस्य—निशाकरस्य, रुचिप्ररोहाः,—प्रभाङ्गुरा, जगत्—भुवन, गिलित्वा—ग्रसित्वा, प्रमोदात्—हर्षात्, हसतः,—हास्य कुर्वत, ध्वान्तम्—अन्धकारः एव, निशाचरः,—राक्षसः तस्य, दन्ता,—दशनाः, इव, शुभ्रत्वमाभ्यादिति



अर्थान्तरन्यासनाह,—

उक्तसिद्धार्थमन्यार्थन्यासो व्याप्तिपुरःसरः ।

कथ्यतेऽर्थान्तरन्यासः श्लिष्टोऽश्लिष्टश्च स द्विधा ॥६२॥

उदाहरति,—

शोणत्वमक्षामसिताब्जभासा

गिरां प्रचारस्त्वपरप्रकारः ।

बभूव पानान्मधुनो बधूना-

मचिन्तनीयो हि सुराऽनुभावः ॥ ६३ ॥

भावः. चकाशिरै—व्यराजन्त । अत्र सतः अर्थस्य चन्द्रमयूखस्य दन्तरूपेण कल्पना, सा च इवशब्देन द्योतिता इत्युत्प्रेक्षा । उपेन्द्रवज्रेन्द्रवज्रयोरुपजातिः वृत्तम् ॥ ६० । ६१ ॥

अवसरप्राप्तमर्थान्तरन्यासं लक्षयति, उक्तेति ।—उक्तस्य—कथितस्य वस्तुनः, सिद्धार्थं—प्रामाण्यप्रतिपत्त्यर्थं, व्याप्तिपुरःसरः,—युक्तिपूर्वकः, सिद्धान्तपूर्वकः वा, यः अन्यस्य—अपरस्य, अर्थस्य—वस्तुनः, न्यासः,—कथनं, स अर्थान्तरन्यासः,—तदाख्योऽलङ्कारः, कथ्यते—उच्यते । अस्य द्वैविध्यमाह, श्लिष्ट इति ।—स,—उक्तरूपः अर्थान्तरन्यासः, श्लिष्टः,—श्लेषसमन्वितः, अश्लिष्टः,—श्लेषरहितश्चेत्यर्थः, इति द्विधा—द्विप्रकारः, भवतीति शेषः । पथ्यावक्त वृत्तम् ॥ ६२ ॥

तत्र श्लेषमूलमर्थान्तरन्यासम् उदाहरति, शोणत्वमिति ।—बधूना—नारीणा, मधुनः,—मद्यस्य, पानात्—गलाधःकरणात्, असिताब्जभासां—नीलोत्पलच्छवीनाम्, अक्षाम—नेत्राणां, शोणत्व—रक्तत्वं, तथा गिरां—वाचां, प्रचारः,—प्रयोगः, अपर-प्रकारः,—अन्यविधः, स्वभावविपरीत इत्यर्थः, बभूव—आसीत् । हि—तथा हि, सुराऽनुभावः,—सुरायाः,—आसवस्य, अन्यत्र,—

शुण्डादण्डैः कम्पिताः कुञ्जराणा

पुष्पोत्सर्गं पादपाञ्चार् चक्रुः ।

स्तब्धाकाराः किं प्रयच्छन्ति किञ्चित्

क्रान्ता यावन्नोद्धतैर्वीतशङ्कम् १ ॥ ८४ ॥

सुराणा—देवानाञ्चेत्यर्थः, अनुभाव,—प्रभावः, अचिन्तनीयः,  
—दुर्विभावणीयः, अतर्कणीय इत्यर्थे, भवति इति शेषः, दैव-  
प्रभावेण मटिरामाहात्म्येन च सर्वमेव सम्भवतीति भावः। अत्र  
“सुराऽनुभाव” इति प्रद सन्धिजाकारान्तसुरा-सुरशब्दाभ्या  
श्लेषेण मद्य-देवतारूपार्थद्वयबोधनात् श्लिष्टमिति तन्मूलतया  
मद्यपानजनितनयनरक्तिमस्वरविकृतिरूपस्य उक्तस्य अर्थस्य  
प्रामाण्यसिद्धयर्थम् “अचिन्तनीयो हि सुराऽनुभावः” इत्यन्यार्थ-  
न्यसनात् श्लेषमूलः अर्थान्तरन्यासः । उपजातिः वृत्तम् ॥ ८३ ॥

अथाश्लिष्टमर्थान्तरन्यासमुदाहरति, शुण्डादण्डैरिति ।—  
पादपा..—तरवः, कुञ्जराणा—हस्तिना, शुण्डादण्डैः,—स्थूल-  
लगुडवल्ग्वस्वमानकरैः, कम्पिताः,—व्याधूताः, सन्तः, चारु—  
मनोज्ञ यथा तथा, पुष्पाणा—कुसुमानाम्, उत्सर्गं—वर्षणं,  
चक्रुः,—विदधुः, तथा हि,—स्तब्धाकाराः,—स्तब्धः,—निश्चेष्टः,—  
आकारः,—आकृतिः येषां तथोक्ताः, जुडा इत्यर्थः, निर्बोधाः  
इति यावत्, उद्धतैः,—धृष्टैः, प्रमत्तैरिति यावत्, वातशङ्क—  
निभेय यथा तथा, यावत्—यत्कालपर्यन्त, न क्रान्ताः,—  
नाभिभूताः, भवन्ति इति शेषः, तावत्—तत्कालपर्यन्त, किञ्चित्  
—किमपि वस्तु. प्रयच्छन्ति ?—ददति किम् ? न प्रयच्छन्तौ-  
त्यर्थः । अत्र “शुण्डादण्डैः” इत्यादि प्रथमाद्धोक्तार्थस्य सिद्धयर्थम्  
अश्लिष्टार्थकेन उत्तरार्द्धेन अर्थान्तरस्य उपन्यासात् अश्लिष्टः  
अर्थान्तरन्यासः । शालिनी वृत्तम् ॥ ८४ ॥

समासोक्तिमाह,—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजननक्षमम् ।

सधर्म्मं सा समासोक्तिरन्योक्तिर्वाऽभिधीयते ॥ ८५ ॥

उदाहरणम्,—

मधुकर । मा कुरु शोकं

विचर करोरद्रुमस्य कुसुमेषु ।

घनतुहिनपातर्दलिता

कथं नु सा मालती मिलति ? ॥ ८६ ॥

अवसरप्राप्तां समासोक्तिं लक्षयति, उच्यते इति ।—यत्र वक्तुम् इष्टस्य—विवक्षितस्य वस्तुनः, प्रतीतिजननक्षमं—बोधोत्पादनसमर्थं, सधर्म्मं—समानधर्म्मवत्, अन्यत् वस्तु इति शेषः, उच्यते—अभिधीयते, सा समासोक्तिः, अन्योक्तिः वा अलङ्कारः इति शेषः, अभिधीयते—कथ्यते । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

समासोक्तिसुदाहरति, मधुकरेति ।—हे मधुकर !—भ्रमर ! शोक—शुचं, खेदमित्यर्थः, मा कुरु—न विलपेत्यर्थः ; करोर-द्रुमस्य—करोरनाम्ना प्रसिद्धस्य निष्पत्रकण्टकिवृक्षविशेषस्य, कुसुमेषु—पुष्पेषु, विचर—भ्रमणं कुरु, घनस्य—निविडस्य, तुहिनस्य—हिमस्य, पातेन—थतनेन, दलिता—विनष्टा, सा—त्वया अनुभूतेत्यर्थः, मालती—जातिकुसुमं, नु—भोः । कथ—केन प्रकारेण, मिलति—सङ्गच्छते, पुनः सङ्गता भवतीति यावत् । अत्र हे नायक ! सा तव कान्ता कालहता, ततस्त्वम् इदानीं शोकं विहाय अन्यासु रमस्वेति विवक्षितस्य अन्यार्थस्य प्रतीतये तत्समानधर्म्मस्य भ्रमरमालत्यादिरूपस्यान्यस्य वस्तुनोऽभिधानात् समासोक्तिः । आख्यां वृत्तम् ॥ ८६ ॥

चिन्तयति न चूतलतां  
याति न जाति न केतकीं क्रमते ।  
कमललताभग्नमना  
मधुपयुवा केवलं क्वणति ॥ ६७ ॥

विभावनामाह,—

विना कारणसङ्गावं यत्र कार्यस्य दर्शनम् ।  
नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनात् सा विभावना ॥ ६८ ॥

समासोक्तेरुदाहरणात्तरमाह, चिन्तयतीति ।—स्वाभिमता-  
यामनुरक्त विधुरं कश्चित् युवानमन्यनारीनिरपेक्षमालोक्य कस्य-  
चिदुक्तिरियम् । कमललतया—पद्मिन्या इत्यर्थः, भग्नम्—आकृ-  
ष्टम् इत्यर्थः, मनः,—चित्त, यस्य तथाभूतः, मधुपयुवा—तरुण-  
श्रमरः, चूतलताम्—आस्रमुकुलमिति भावः, न चिन्तयति—  
स्मरतीत्यर्थः, तथा जाति—जातिपुष्प, (“चमेली” इति भाषा)  
न याति—न आश्रयति, केतकीञ्च—केतकीकुसुमञ्च, न क्रमते—  
न अभियाति इत्यर्थः, केवलं क्वणति—रौति । एतेन कस्याञ्चित्  
नायिकाया समाकृष्टमना. कश्चित् युवा नान्या पश्यति,  
केवलं तामप्राप्य रोदिति इति वस्तु प्रतीयते । श्लोकोऽयं  
प्रक्षिप्ततया प्रतिभासते, क्वचिदेवास्य, उपलभ्यमानत्वात् ।  
आर्या वृत्तम् ॥ ६७ ॥

विभावना लक्षयति, विनेति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे,  
कारणसङ्गाव—हेतोः सत्ता, विना—अन्तरेण, नैसर्गिकगुणो-  
त्कर्षस्य—स्वाभाविकगुणप्रकर्षस्य, भावनात्—उत्पत्तेः, प्रत्याय-  
नादिति यावत्, कार्यस्य—कर्मणः, दर्शन—ज्ञानमित्यर्थः,  
भवति इति शेषः, सा विभावना, कथ्यते इति शेषः । पथ्यावक्तु  
वृत्तम् ॥ ६८ ॥

उदाहरणम्,—

अनध्ययनविद्वांसो निर्द्रव्यपरमेश्वराः ।

अनलङ्कारसुभगाः पान्तु युष्मान् जिनेश्वराः ॥ ९९ ॥

दोपकमाह,—

आदिमध्यान्तवर्त्येकपदार्थेनार्थमङ्गतिः ।

वाक्यस्य यत्र जायेत तदुक्तं दीपकं यथा ॥ १०० ॥

विभावनामुदाहरति, अनध्ययनेति ।—न—नास्ति, अध्ययनं—पठन येषां तथाभूताः, अध्ययनवर्जिताः, अनधीतविद्याः इत्यर्थः, अथ च विद्वासः,—ज्ञानवन्तः, पण्डिता इत्यर्थः, निः,—नास्ति, द्रव्य—धन, येषा तथाभूताः, निर्द्वेना इत्यर्थः, अथ च परमेश्वराः,—अतिशयेन ऐश्वर्यशालिनः, न सन्ति अलङ्काराः,—भूषणानि येषां तथाभूताः, निराभरणा इत्यर्थः, अथ च सुभगाः,—सर्वजनप्रियाः, सुदर्शनाः इत्यर्थो वा, जिनेश्वरा,—बौद्धश्रेष्ठाः, युष्मान्—भवत, पान्तु—रक्षन्तु । अत्र अध्ययन कारणं, विद्वत्त्वं कार्यं, द्रव्य कारणम्, ऐश्वर्यं कार्यम्, अलङ्कार कारण, सौभाग्य कार्यं, किन्तु अध्ययनादिरूप-तत्तत्कारणासङ्गावेऽपि विद्वत्त्वादिरूपतत्तत्कार्यस्य दर्शनं जिनेश्वराणां नैसर्गिकगुणोत्कर्षभावनया युज्यते इति विभावना । पथ्यावक्तव्यं ॥ ९९ ॥

अथावसरप्राप्त दोपकं लक्षयति, आदौति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, वाक्यस्य—वाक्यसम्बन्धिना इत्यर्थः, आदिमध्यान्तवर्तिना—आदिस्थितेन मध्यस्थितेन अन्तस्थितेन वा, एकेन—स्वरूपतस्तात्पर्यतो वाऽद्वितौयेनेत्यर्थः, पदार्थेन—वस्तुना, क्रियारूपेण कारकरूपेण वेति भावः, अर्थस्य—अभिधेयस्य, सङ्गतिः,—सङ्गावः, जायेत—भवेत्, तत् दीपकं—दीपकनामा

जगुस्तव दिवि स्वामिन् ! गन्धर्वाः पावनं यशः ।

किन्नराश्च कुलाद्रीणां कन्दरेषु मुहुर्मुदा ॥ १०१ ॥

विराजन्ते तमिस्राणि द्योतन्ते दिवि तारकाः ।

विभान्ति कुमुदश्रेण्यः शोभन्ते निशि दीपकाः ॥ १०२ ॥

अलङ्कारः, यथा—तत्त्वेन, उक्त—कथितम् ; यद्वा—“यथा” इति उदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

दीपकमुदाहरति, जगुरिति—हे स्वामिन् !—प्रभो !, दिवि—स्वर्गे, गन्धर्वाः,—देवयोनिविशेषाः, देवगायनाः इति यावत्, कुलाद्रीणा—कुलाचलानां, हिमाद्रिप्रभृतीनामिति यावत्, कन्दरेषु—गुहासु, किन्नराश्च—किम्पुरुषाश्च, मुहुः,—पुनः पुनः, मुदा—हर्षेण, तव—भवतः, पावनं—पवित्रता-ऽऽपादकं, यशः,—कीर्तिं, जगुः,—कीर्तयामासुः । अत्र “जगु” इति श्लाकादिस्थितम् एक क्रियापदं “गन्धर्वाः तव यशः जगुः” “किन्नराश्च तव यशः जगुः” इति उभयोः वाक्ययोः अन्वेति इति दीपकम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १०० । १०१ ॥

बहूनां क्रियाणां तात्पर्यत एके कारकैकपदयोगे वा दीपकम् उदाहरति, विराजन्ते इति ।—तमिस्राणि—तमिस्राणि, विराजन्ते—विजृम्भन्ते, दिवि—आकाशे, तारकाः,—नक्षत्राणि, द्योतन्ते—दीप्यन्ते ; कुमुदश्रेण्यः,—कुमुदाना—कैरवाणा, रात्रिविकासिना श्वेतोत्पलानामित्यर्थः, श्रेण्यः,—पङ्क्तयः, विभान्ति—शोभन्ते, निशि—रात्रौ, दीपकाः,—आलोकवर्तिकाः, शोभन्ते—ज्वलन्ति इत्यर्थः । अत्र आदि-मध्यान्तस्थितानां बहूनामपि क्रियापदानां तात्पर्यतोऽभिन्नानां “निशि” इति एकेन कारकपदेन अन्विततया सर्ववाक्यसङ्गतिरिति लक्षणसमन्वयः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १०२ ॥

अतिशयोक्तिमाह,—

वस्तूनां वक्तुमुत्कर्षमसम्भाव्यं यदुच्यते ।

वदन्यतिशयाख्यं-तमलङ्कारं बुधा यथा ॥ १०३ ॥

त्वहारितारितरुणीश्वसितानिलेन

सम्मूर्च्छितोर्मिषु महोदधिषु क्षितीश ! ।

अन्तर्लुठद्विरिपरस्परशृङ्गसङ्ग-

घोरारवैर्मुररिपोरपयाति निद्रा ॥ १०४ ॥

अतिशयालङ्कार लक्षयति, वस्तूनामिति ।—वस्तूनाम्—  
अर्थानाम्, उत्कर्षं—श्रेष्ठता, वक्तुं—प्रतिपादयितुं, यत् असम्भाव्यं  
—सम्भवायोग्यम्, उच्यते—कथ्यते, बुधाः,—विद्वांसः, तम् अल-  
ङ्कारम् अतिशयाख्यम्—अतिशयनामक, यथा—तत्त्वेन, वदन्ति  
—भाषन्ते ; यद्वा,—“यथा” इत्युदाहरणनिर्देशार्थम् । पथ्यावन्नं  
वृत्तम् ।

अतिशयालङ्कारम् उदाहरति, त्वदिति ।—हे क्षितीश !—  
राजन् !, त्वया—भवता, दारिताः,—सङ्घामे निहता, ये  
अरयः,—शत्रवः, तेषां याः तरुण्य, —कामिन्यः, तासां श्वासिता-  
निलेन—निश्वासवायुना, सम्मूर्च्छिताः,—सर्वर्जिता, ऊर्मयः,—  
कङ्गोलाः, येषा तथाविधिषु, महोदधिषु—महासमुद्रेषु, अन्त-  
र्लुठन्तः,—तरङ्गवेगीण जलमध्ये इतस्ततः चलन्तः, ये गिरयः,  
—पर्वताः, तेषां परस्परस्य—अन्योऽन्यस्य, शृङ्गाणा—शिख-  
राणा, सङ्गः,—सङ्घर्षः, आघात इति यावत्, तस्य घोराः,—  
विकटाः, आरवाः,—शब्दाः, तैः, मुररिपोः,—विष्णोः, समुद्र-  
शायिनः इति भावः, निद्रा—स्वापः, अपयाति—नश्यति ।  
अत्र प्रथमं त्वन्निहतारिवधूना निश्वासितानिलेन समुद्रतरङ्ग-  
क्षोभः असम्भवी, ततश्च गिरीणा मिथः शृङ्गघर्षण, तथा,

एकदण्डानि सप्त स्थुर्यदि च्छत्राणि पर्वते ।  
तदोपमीयते पार्श्वमूर्द्धि सप्तफणः फणी ॥ १०५ ॥

हेतुमाह,—

यत्रोत्पादयतः कञ्चिदर्थं कर्तुः प्रकाशते ।

तद्योग्यतायुक्तिरसौ हेतुरुक्तो बुधैर्यथा ॥ १०६ ॥

तज्जनितशब्देन च क्षीरोदशायिनः भगवतो योगनिद्रामनुभवतः  
पुराणपुरुषस्य निद्राभङ्गः नितराम् असम्भवौ सन् राज्ञः  
प्रतापातिशयरूपं वस्तु प्रतिपादयति इति अतिशयालङ्कारः ।  
वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १०३ । १०४ ॥

प्रकारान्तरेणातिशयमुदाहरति, एकेति ।—यदि—चेत्,  
पर्वते—गिरौ, एकः,—अद्वितीयः, दण्डः,—यष्टिः येषा तथा-  
भूतानि, एकयष्टिसङ्गतानि इत्यर्थः, सप्त—सप्तसङ्ग्रहकानि,  
च्छत्राणि—आतपत्राणि, स्युः,—भवेयुः, तदा—तर्हि, पार्श्वस्य  
—पार्श्वेनाथस्य, मूर्द्धि—शिरसि, सप्त फणा,—भोगाः यस्य  
तथाभूतः, फणी—भुजङ्गः, उपमीयते—सदृशोक्रियते । अत्र  
पर्वते एकदण्डसप्तच्छत्रासम्भवात् पार्श्वेनाथशिरस्थस्य सप्त-  
फणस्य फणिनः सादृश्यमसम्भवीत्येवम् असम्भाव्यवर्णनेन तस्य  
अत्युत्कर्षप्रत्यायनात् अतिशयालङ्कारः । नथावक्तं वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अथावसरप्राप्त हेतुं लक्षयति, यत्रेति । यत्र—यस्मिन्  
अलङ्कारे, कञ्चित्—कमपि, अर्थम्—अभिधेयम्, उत्पादयतः,  
—रचयतः, कर्तुः,—सम्पादकस्य, तस्य—अर्थस्य, योग्यताया  
—सम्पादनसामर्थ्ये, युक्तिः,—कारण, न्याय इत्यर्थः, प्रकाशते  
—प्रतीयते, स बुधैः,—पण्डितैः, हेतुः,—हेतुनामा अलङ्कारः  
यथा—तत्त्वेन, उक्तः,—कथितः ; “एतस्मात् कारणात् असौ  
जनः कर्मदं सम्पादयितुं योग्यो भवति” इति यत्र कथ्यते, स



जुब्बणसमओम्भत्ता

तत्ता विरहेण कुण्ड ग्राहस्स ।

कांठब्भंतरघोलिद्-

महुरसरं बालिआ गीअम् ॥ १०७ ॥

उदाहरणान्तरम्,—

विससोअरो मिअंको

कअंतआसाद् आअदो पवणो ।

हेतुर्नामालङ्कारः इति, समुदितार्थः । “यथा” इति उदाहरण-  
निर्देशार्थं वा । पथ्यावक्तृ वृत्तम् ।

प्राकृते काव्ये हेतुम् उदाहरति, जुब्बणेति ।—[“यौवन-  
समयोन्मत्ता तस्मा विरहेण करोति नाथस्य । कण्ठाभ्यन्तर-  
घोलितमधुरस्वर बालिका गीतम् ॥” इति सस्कृतम् ] । यौवन-  
समयेन — तारुण्यावस्थया, यौवनोद्गमेनेत्यर्थः, उन्मत्ता—  
उच्छृङ्खलतां नीता, नाथस्य—कान्तस्य, विरहेण—वियोगिन,  
तस्मा—अथिता, बालिका—नवोना कामिनी, नववधूरित्यर्थः,  
कण्ठाभ्यन्तरे—गलदेशमध्ये एव, घोलितः,—आविष्कृतः  
आन्दोलित इत्यर्थः, न तु लज्जया वहिः प्रकाशित इति भावः,  
मधुरः,—मदनोद्रेककण्ठोद्गारहेतुकतया कोमलः, स्वरः,—  
कण्ठध्वनिः यत्र तत् यथा तथा, गीत—गान, करोति—विधत्ते,  
गायति इत्यर्थः । अत्र बालिकायाः सङ्गीतेन स्वमनोवृत्तिरूपमर्थं  
प्रकटयन्त्याः स्वयौवनोद्गेदजन्योन्मत्तता पतिविरहजन्यव्यथा च  
गीतोत्पादनयोग्यतया कारणमुपन्यस्तमिति हेतुः अलङ्कारः ।  
आर्यावृत्तम् ॥ १०६ । १०७ ॥

उदाहरणान्तरमाह, विसेति ।—[ “विषसोदरो नृगाहः  
कृतान्ताशया आगतः पवनः । जातपलाशः शिखरी पथि-

जाअपलासो'सिहरी

पहिए मारंति ते तिह्लि ॥ १०८ ॥

कान् मारयन्ति ते त्रयः ॥” इति संस्कृतम् ] । विषस्य—काल-  
कूटस्य, सोदरः,—एकमाटक', भ्राता इत्यर्थः, एकाधिकरण-  
सम्भूत इति यावत्, [ अस्य कालकूटेन सह एकोदरसम्भूतत्व-  
कथनात् तद्वदतिभीषणत्वं सूचितम् ] ऋगाङ्गः,—चन्द्रः, द्वयोः  
अपि एकसमुद्रोत्पन्नत्वात् इति भावः, तथा कृतान्ताशयाः,—  
कृतान्तस्य—यमस्य, आशा—तद्वास्तव्यत्वेन तदधिपतित्वेन वा  
उपलक्षिता दिक्, दक्षिणा दिगिति यावत्, तस्याः, आगत',—  
प्रवाहित', [ एतेन सर्व्वसंहारकशमनससर्गादस्यापि संहारकत्व  
सूचितम् ] पवनः,—मलयवायुः इत्यर्थ', एव जातपलाशः,—  
जातानि—अचिरोद्गतानि, पलाशानि—पत्राणि यस्य तादृशः,  
सञ्जातनवपल्लव इत्यर्थ', शिखरो—ततः, इति ते—उक्तरूपा,  
त्रयः,—त्रिविधा. पदार्थाः, पथिकान्—अध्वगान्, मारयन्ति—  
तापयन्ति इत्यर्थ', सर्व्वेषामिवैतेषा सातिशयकाभोहीपकत्वादिति  
भावः । [ अत्र “मारति ते तिह्लि” इत्यत्र “मारन्ति ते दाणिम्”  
इति पाठान्तरे “मारयन्त्येते इदानौम्” इति संस्कृतम् ] । अत्र  
विष हि मारक वस्तु, तत्सोदरस्य चन्द्रस्य अपि तथात्वं युक्तमेव,  
कृतान्तस्य च मारकत्वं प्रसिद्ध, तद्दिशातः आगतस्य पवनस्यापि  
तद्वर्णवत्त्वमुचितम् , जातपलाशः इत्यस्य—जाता—समुत्पन्ना,  
पले—मासे, तद्द्वन्द्वे इत्यर्थ', आशा—लालसा, उल्कटेति  
भाव यस्य, पलभक्षणविषयिण्यामुल्कटेच्छाया समुदिताया  
कदाचित् तद्विनिवृत्त्यर्थं जिघासिस्य मारणे प्रयत्नः क्रियते इति  
दृश्यते, तत्सिद्धौ च तन्मारकत्व सुसङ्गतमेव , यद्वा,—जातः,—  
उत्पन्न', कृतः—इत्यर्थः, पलस्य—मासस्य, आशः,—अशनं, येन

पर्यायोक्तिमाह,—

अतत्परतया यत्र कल्प्यमानेन वस्तुना ।

विवक्षितं प्रतीयेत पर्यायोक्तिरियं यथा ॥ १०९ ॥

त्वत्सैन्यवाहनिवहस्य महाऽऽहवेषु

द्वेषः प्रभो ! रिपुपुरम्भिजनस्य चासीत् ।

एकः खुरेर्बहुलरेणुत्ततिं चकार

तां सञ्जहार पुनरश्रुजलैर्यदन्यः ॥ ११० ॥

इति व्युत्पत्तो शिखरिणोऽपि मासाशितया मारकत्वं सङ्गतमेव,  
इति पथिकमारणे यथाक्रम विषसोदरादिविशेषणत्रयवता  
त्रयाणामिव मृगाङ्गादीनां योग्यताऽस्तीति हेत्वलङ्कारसङ्गति-  
बोध्या । आर्या वृत्तम् ॥ १०८ ॥

अथावसरप्राप्तां पर्यायोक्तिमलङ्कारं लक्षयति, अतत्परत-  
येति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, अतत्परतया—तदर्थाबोधक-  
त्वन, कल्प्यमानेन—निर्दिश्यमानेन, कथ्यमानेन इत्यर्थः,  
[ अत्र “कल्प्यमानेन” इति पाठे वक्ष्यमानेनेत्यर्थः ] वस्तुना—  
अर्थेन, विवक्षित—वक्तुमिष्ट वस्तु, प्रतीयेत—बुध्येत, सेयं  
पर्यायोक्तिः,—पर्यायोक्तिनामा अलङ्कारः भवेति शेषः । यथेति  
पूर्ववदुदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् । पथ्यावक्त वृत्तम् ।

पर्यायोक्त्यलङ्कारमुदाहरति, त्वदिति ।—हे प्रभो ।—  
राजन् ।—महाऽऽहवेषु—भाषणरणेषु, जायमानेषु सत्सु इति  
शेषः, [अत्र भावाधिकरणे सप्तमी, यद्वा,—महाऽऽहवेषु—महा-  
ऽऽहवसमये, इति कालाधिकरणे सप्तमी] तव—भवतः, सैन्येषु—  
बलेषु, ये वाहाः,—अश्वाः, तेषां निवहस्य—समूहस्य, रिपूणा  
—शत्रूणां, पुरम्भिजनस्य—नारीजनस्य च, द्वेषः,—परस्परं

•समाहितमाह,—

कारणान्तरसम्पत्तिर्देवादारम्भ एव हि ।

यत्र कार्यस्य जायेत तज्ज्ञायेत समाहितम् ॥ १११ ॥

उदाहरणम्,—

मनस्विनी वल्लभवेश्म गन्तुम्

उत्काण्डता यावदभूत् निशायाम् ।

तावत् नवाब्धोधरधीरनाद-

प्रबोधितः सौधाशखी चुकूज ॥ ११२ ॥

वैरभावः, अन्योऽन्य क्रियाप्रतिघातः इत्यर्थः, आसीत्—अभवत् ; यत्—यतः कारणात्, एकः,—प्रथमः, अश्वनिवहः इत्यर्थः, खुरैः,—शफेः, खुराघातेरित्यर्थः, बहुला—प्रभृतां, रेणु-ततिं—धूलिविस्तार, चकार—विदधे, अन्यः,—अपरः, रिपु-नारीजन इत्यर्थः, पुनः अशुजलैः,—पतिशोकजनयननीरैः, ता—रेणुतति, सञ्जहार—निराचकार । अत्र “राज्ञा बहवः शत्रवः निहता इति विवक्षितोऽर्थः, अतदर्थतया प्रयुक्तेन एत-द्वाक्यप्रतिपाद्येन “राजसैन्याश्चखुरोद्धूतं रजः निहतरीपुनारी-जनशोकाश्रुणा अपनीतम्” इत्यर्थं प्रतीयते इति उक्तरूपपर्या-योक्त्यलङ्कारसमन्वयः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ॥ १०८ । ११० ॥

समाहितमलङ्कारं लक्षयति, कारणेति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, कार्यस्य—कर्मणः, आरम्भे—उपक्रमे एव, देवात्—सहसा, कारणान्तरस्य—हेत्वन्तरस्य, सम्पत्तिः,—समुपस्थितिः, जायेत—भवेत्, तत् समाहितं—समाहितनामालङ्कारः, ज्ञायेत—बुध्येत । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १११ ॥

समाहितालङ्कारम् उदाहरति मनस्विनीति ।—मनस्विनी—अत्यभिमानिनी कान्ता, निशायां—रात्रौ, यावत्—यदा इत्यर्थः, वल्लभस्य—प्रियस्य, वेश्म—गृहं, गन्तुं—यातुम्, उत्क-

परिवृत्तिमाह,— •

परिवर्त्तनमर्थेन सदृशाऽसदृशेन वा ।

जायेतार्थस्य यत्नासौ परिवृत्तिर्यथा मता ॥ ११३ ॥

खिन्ना—उत्सृक्ता, अभूत्—अजनि, तावत्—तदेवेत्यर्थः, सौध-  
शिखी—हर्म्याग्रस्थितः मयूरः, नवान्मोधरस्य—नवीनजलधरस्य,  
धीरेण—गम्भीरेण, नादेन—ध्वनिना, प्रबोधितः,—जागरितः  
सन्, चुकूज—रुराव, केकारवं चकार इत्यर्थः । अत्र मानिन्या  
मानभङ्गे उत्कण्ठारूपस्य अन्यस्य कारणस्य सत्त्वेऽपि प्रियभवन-  
गमनोपक्रमे एव मेघगर्जनेन मयूरनादरूपकारणान्तर-  
समुपस्थितिरिति समाहितालङ्कारसङ्गतिः । यथा वा,—“मान-  
मस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः । उपकाराय दिष्टोऽमुदीर्णं  
घनगर्जितम् ॥” इति । अत्र मानप्रथमनार्थं पादपतने प्रवृत्तं  
नायकम् अकस्मादुद्भूत घनगर्जितं समाकर्ष्य बिभ्यती, तस्य  
कामोद्दापकत्वेन अत्यत्कखिन्ना वा नायिका प्राकृतमभिमान  
विस्मृत्य स्वयमेव आलिङ्गितवतीति कान्तायाः मानापनयनो-  
पायमनुसन्धतः नायकस्य सुमहदुपकृत कृत घनगर्जितनेति  
वेदितव्यम् । उपजातिः वृत्तम् ॥ ११२ ॥

अवसरप्राप्तां परिवृत्तिं नाम अलङ्कारं लक्षयति, परिवर्त्तन-  
मिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, सदृशा—समेन, वा—अथवा,  
असदृशेन—विषमेण, न्यूनं अधिकेन वा इत्यर्थः, अर्थेन—  
वस्तुना, (सह) अर्थस्य—वस्तुनः, परिवर्त्तनं—विनिमयः, जायेत  
—घटेत, असौ यथा—तत्त्वेन, परिवृत्तिः,—परिवृत्तिनामा-  
लङ्कारः, मता—कथिता, यद्वा,—असौ परिवृत्तिः, मता—  
उदाहृता ; यथेति उदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् । पथ्यावक्तं  
वृत्तम् ॥ ११३ ॥

प्रथमासुदाहरति,—

अन्तर्गतव्यालफणामणौना  
प्रभाभिरुद्भासितभूषु भर्त्त. । ।  
स्फुरत्प्रदीपानि गृहाणि सुक्ता  
गुहासु शीते त्वदरातिवर्गः ॥ ११४ ॥

द्वितीयासुदाहरति,—

दत्त्वा प्रहार रिपुपार्थिवानां  
जग्राह यः संयात जौवितव्यम् ।

सदृशेन वस्तुना सदृशस्य वस्तुनो विनिमये परिवृत्तिमुदाहरति, अन्तर्गतेति ।—हे भर्त्तः ।—स्वामिन् । तव—भवतः, अरातिवर्गः,—शत्रुगणः, स्फुरन्तः,—दौष्यमानाः, प्रदीपाः—आलोकवर्त्तिकाः येषु तथाभूतानि, गृहाणि—भवनानि, सुक्ता—विहाय, अन्तर्गतानाम्—अभ्यन्तरवर्त्तना, व्यालानां—विषधरसर्पाणामित्यथे, ये फणामणयः,—भोगस्थरत्नानि, तेषां प्रभाभिः,—मयूखैः, उद्भासिता—राजिता, भूः,—भूमिः, यासु तासु, गुहासु—गिरिकन्दरेषु, शीते—शयितः आस्ते । अत्र फणामणयः प्रदीपानां सदृशाः, गुहाश्च गृहाणा सदृशः, इति प्रदीपप्रकाशितानां गृहाणा परित्यागेन फणामणिप्रकाशितानां गुहानाम् उपादानात् सदृशवस्तुविनिमयमूला परिवृत्तिनामालङ्कारसङ्गतिः इति । उपजातिः वृत्तम् ॥ ११४ ॥

असदृशेन वस्तुना विनिमयमूला परिवृत्तिमुदाहरति, दत्त्वेति ।—यः,—नृप इत्यर्थः, संयाति—सङ्ग्रामे, ( “—सङ्ग्रामाभ्यागमाहवाः । समुदायः स्त्रियः संयत् समित्याजिसमिद्-युधः ॥” इत्यमरः ) रिपुपार्थिवानां—शत्रुनृपतीनां, प्रहारम्—आघातः, दत्त्वा—विधाय, जौवितव्यं—जौवितं, जग्राह—गृहीतवान्, स्वविक्रमेण युधि रिपूनाहृत्य तान् हतजौवितान् चकार

शृङ्गारभङ्गीञ्च तदङ्गनानाः

मादाय दुःखानि ददौ सदैव ॥ ११५ ॥

यथासङ्गमाङ्, —

यत्रोक्तानां पदार्थानामर्थः सम्बन्धिनः पुनः ।

क्रमेण तेन बध्यन्ते तद् यथासङ्गमुच्यते ॥ ११६ ॥

उदाहरणम्,—

शृदुभुजलतिकाभ्यां शोणिमानं दधत्या

चरणकमलभामा चारुणा चाननेन ।

इति भावः, तथा तदङ्गनाना-तेषाम्-आचरितप्रतिबन्धिभावानां नरपतीनाम्, अङ्गनाः,—‘कान्ताः, तासां, शृङ्गारभङ्गीं—शृङ्गार-रसविलासम् इत्यर्थः, आदाय—स्वयं गृहीत्वा, तामा तादृश-विलासम् अपनीय इति यावत्, सदैव—सर्वदैव, भोग्यानि इति शेषः, दुःखानि—क्लेशान्, ददौ—दत्तवान् ; त्वया हतदयि-तास्ता रिपुवनिताः शृङ्गारविलासं चिराय विहाय केवलं दुःखानलतापमनुभवन्ति इति भावः । अत्र प्रहारजीवनयोः निश्चयोक्तृष्टयोः, शृङ्गारभङ्गीदुःखयोश्च उत्कृष्टनिष्कृष्टयोः सादृश्यं नास्तीति तादृशयोरसदृशयोर्वस्तुनोः विनिमयप्रदर्शनात् अस-दृश्यपरिवृत्तिसङ्गतिः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११५ ॥

यथासङ्गमलङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन् प्रयोगे, उक्तानां—वर्णितानां, पदार्थानां—वस्तूनां, सम्बन्धिनः,—सम्बन्धशालिनः, अर्थाः,—वस्तूनि, पुनः,—भूयः, द्वितीया-वृत्तने इत्यर्थः, तेन क्रमेण—प्रथमोक्तरीत्या इत्यर्थः, बध्यन्ते—ग्रथ्यन्ते, विरच्यन्ते इत्यर्थः, तत् यथासङ्गं—यथासङ्गनामा-लङ्कारः, उच्यते—कथ्यते । पथ्यावच्छेद वृत्तम् ॥ ११६ ॥

यथासङ्गमुदाहरति; सृष्टिति ।—विसानि—सृणालानि, क्रिमलगाः,—नवपल्लवा, पद्मानि—कमलानि, एतानि शृदु-

विसकिसलयपद्मान्यात्तलक्ष्मीणि मन्ये  
विरहविपदि वैरात्तन्वते तापमङ्गे ॥ ११७ ॥

विषमनाह,—

वस्तुनोर्यत्र सम्बन्धमनौचित्येन केनचित् ।  
असम्भाव्यं वदेद्वक्ता तमाहुर्विषमं यथा ॥ ११८ ॥

भुजलतिकाभ्यां—क्रोमलबाहुवह्निभ्यां, शोणिमानं—रक्तत्वं,  
दधत्या—धारयन्त्या, चरणकमलभासा—पदपङ्कजकान्त्या, तथा  
चारुणा—मनोहरेण, आननेन—वदनेन, च आत्ता—गृहीता,  
लक्ष्मीः,—श्रीः येषा तथाभूतानि, अत एव, विरहः,—प्रिय-  
विच्छेद एव, विपद्—विपत्तिः, तस्यां मत्या, वैरात्—स्वस्व-  
लक्ष्मीहरणजनितात् द्वेषात्, अङ्गे—शरीरे, ताप—सन्तापं,  
तन्वते—जनयन्ति इत्यर्थः, इति मन्ये—तर्कयामि । विरहिरुष्याः  
नायिकायाः विरहसन्तापनिवृत्तये अङ्गेषु निहितानि विसादीनि  
तापं न शमयन्ति, प्रत्युत वर्द्धयन्ति इति भावः । अत्र भुज-  
लता-चरणकमल-आननरूपपदार्थानां सम्बन्धिनः विस-किस-  
लय पद्मरूपा. पदार्थाः यथाक्रम निबन्धाः इति यथामङ्गलम्  
अलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ११७ ॥

विषमालङ्कारं लक्षयति, वस्तुनोरिति ।—यत्र—यस्मिन्  
स्थले. वक्ता—कथयिता, काव्यकृदिति यावत्, वस्तुनो,—द्वयोः  
पदार्थयोः, सम्बन्धं—ससर्गं, केनचित्—येन केनापि अनिर्दिष्टे-  
नेत्यर्थः अनौचित्येन—अन्याय्यत्वेन, असम्भाव्य—सम्भवायोग्य,  
प्रतीतिविरुद्धमित्यर्थः, वदेत्—ब्रूयात्, त विषम—तदाख्याल-  
ङ्कारम्, आहु,—कथयन्ति । यथा इति उदाहरणनिर्देशार्थं  
बोधम् । पथावक्तं वृत्तम् ।



उदाहरणम्,—

क्वेदं तव वपुर्वत्से ! कदलीगर्भकोमलम् ? ।

क्वायं राजीमति ! क्लेशदायी व्रतपरिग्रहः ? ॥ ११९ ॥

संज्ञोक्तिमाह,—

सहोक्तिः सा भवेद्यत्र कार्यकारणयोः सह ।

समुत्पत्तिकथा हेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तताम् ॥ १२० ॥

विषममुदाहरति, क्वेति।—राजीमतीं नाम कामपि युवतीं तपश्चर्यार्थं कृतोद्योगामवलोक्य जैन-यतीन्द्रस्योक्तिरियम् । हे वत्से !—हे स्नेहास्पदे !, हे राजीमति ! कदलीगर्भकोमलं—रम्भागर्भमृदुलम्, इदं—परिदृश्यमानं, तव—ते, वपुः,—शरीरं, क्व ?—कुत्र ? अथ क्लेशदायी—उपवासादिक्लेशबहुल इत्यर्थः, व्रतपरिग्रहः,—व्रत—श्रुतिस्मृत्यादिप्रतिपादितः नियमविशेषः, तस्य परिग्रहः,—स्लोकारः, आचरणम् इत्यर्थः, च क्व ?—कुत्र ? “हो क्लेशब्दो महदन्तर सूचयतः” इति न्यायात् अतिविसदृशतया त्वत्तुल्यायाः कोमलाङ्गास्तरुण्या ईदृशक्लच्छ्रवताचरणं कथमपि न युक्तमिति भावः । अत्र कदलीगर्भकोमलवपुः कठिन-व्रतपरिग्रहश्च एतदुभयोः सम्बन्धस्य अनौचित्येन असम्भव इति विषमालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तुं वृत्तम् ॥ ११८ । ११९ ॥

सहोक्तिनामालङ्कारं लक्षयति, सहोक्तिरिति।—यत्र—यस्मिन् कविभाषिते, हेतोः,—कारणस्य, तज्जन्मशक्ततां—तस्य,—कार्यस्य, जन्मनि—उत्पादने, शक्ततां,—सामर्थ्यं, [ न चात्र हेतुशब्दस्यैव पूर्वीकत्वात् तच्छब्देनापि तस्यैव परामर्शो युज्यते, न तु कार्यस्य, प्रागनिर्देशादिति वाच्यम्, अन्यथा व्याख्यानेन समाधातुं शक्यत्वात् ; तथा हि,—तज्जन्मशक्ततां—तस्मात्—हेतोः, जन्म—उत्पत्तिर्यस्य तत्, तज्जन्म—कार्यमित्यर्थः, तत्र

• उदाहरणम्,—

आदत्ते सह यशसा नमयति सार्धं मदेन सङ्ग्रामे ।

सह विद्विषा श्रियासौ कोदण्डं कर्षति श्रीमान् ॥ १२१ ॥

शक्तता—तज्जननसामर्थ्यमित्यर्थः ] वक्तुं—प्रतिपादयितुं, कार्य-  
कारणयोः,—साध्यसाधनयोः, सह—युगपत्, समुत्पत्तिकथा,  
—समुत्पत्ते,—जन्मनः, कथा—कथनं, भवेत्—स्यात्, सा  
सहोक्तिः,—तन्नामालङ्कारः, भवेत्—स्यादित्यर्थः । [ द्वितीयां  
“समुत्पत्तिः कथाहेतोर्वक्तुं तज्जन्मशक्तिताम्” इति पाठान्तरे  
तु समुदितश्लोकस्यायमर्थः,—यत्र—यस्मिन् कविभाषिते, कथा-  
हेतोः,—कथानायकस्य, तज्जन्मशक्तिता,—तयोः,— कार्य-  
कारणयोः, जन्मनि—योगपद्यसम्पादने, शक्तिः,—सामर्थ्यं यस्य  
तस्य भावः तत्ता ता, वक्तुं—प्रतिपादयितुं, कार्यकारणयोः,  
—फलहेत्वोः, सह—युगपत्, समुत्पत्तिः,—समकालमुद्भवः,  
एककालमेव समुद्भवाख्यानमित्यर्थः, सा सहोक्तिः,—तन्नामा-  
लङ्कारः इति ] अन्ये तु—सह—समं, द्वयोरेककालासम्भविनोः  
इति शेषः, उक्तिः,—अभिधान यत्रेति अन्वया संज्ञामाश्रित्य,—  
“सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचक द्वयोः । सा सहोक्ति-  
र्मूलभूताऽतिशयोक्तिर्यदा भवेत् ॥” इति लक्षणमाहुः । पथ्यावक्तुं  
वृत्तम् ॥ १२० ॥

सहोक्तिमुदाहरति, आदत्ते इति ।—श्रीमान्—सुरूपः,  
समृद्धिशाली वा, असौ—दृश्यमानः, नृपतिः इति शेषः, सङ्ग्रामे  
—युद्धे, विद्विषा—प्रतिपक्षाणां शत्रूणामित्यर्थः, यशसा—कीर्त्या,  
सह—सम, कोदण्डं—धनुः, आदत्ते—गृह्णाति, मदेन—गर्वेण,  
विद्विषामिति भावः, सार्धं—सहैव, नमयति—सुगुणं कर्तुं नतं  
करोतीत्यर्थः, कोदण्डम् इति शेषः, श्रिया—लक्ष्म्या, अत्रापि  
विद्विषामिति योज्य, सह कर्षति—आकर्षति, अत्रापि कोद-

विरोधनाम्,—

आपाते हि विरुद्धत्वं यत्र वाक्ये न तत्त्वतः ।

शब्दार्थकृतमाभाति स विरोधः स्मृतो यथा ॥ १२२ ॥

शब्दकृतमुदाहरणम्,—

दुर्वारबाणविभवेन सुवर्मणाऽपि ।

लोकोत्तरान्वयभुवाऽपि च धीवरेण ।

खड्गम् इति शेषः । कारणकार्ययोर्नियमेन पूर्वापरोभावेण उत्पत्तिः लोके शास्त्रे च प्रसिद्धा ; अत्र तु कोदण्डाकर्षणरूपस्य कारणस्य कार्यजननशक्त्यातिशय्य प्रकटयितुं यशोग्रहण-मदाप-नयन-लक्ष्मीहरणात्मकैः कार्यैः सममेव तस्य उत्पत्तिकथनात् सहोक्त्यलङ्कारसङ्गतिः । आर्या वृत्तम् ॥ १२१ ॥

विरोधालङ्कारं लक्षयति, आपाते इति ।—यत्र—यस्मिन्, वाक्ये—पदसमुदायविशेषे, आपाते—पठनश्रवणमात्रे इत्यर्थः, हि—एव, न तु ततः परमिति भावः, शब्दार्थकृत—शब्दार्थाभ्यां जनितं, विरुद्धत्वं—विराधः, आभाति—आभासते, परं तत्त्वतः, —याथातथ्येन, वाक्यार्थपर्यालोचनायांमिति यावत् न, विरुद्ध-त्वम् आभासते इति शेषः, सः विरोधः,—विरोधनामा अल-ङ्कारः, स्मृतः,—कथितः । यथेति पूर्व्ववदुदाहरणप्रदर्शनार्थं बोध्यम् । पथ्यावक्तं वृत्तम् ।

द्विविधविरोधयोरादौ शब्दकृतविरोधम् उदाहरति, दुर्वार-रेति ।—विष्णुः,—कृष्णः, [ “जिष्णुः” इति पाठान्तरे—जयशीलः श्लोकृष्ण इत्यर्थः ] प्रत्यर्थिषु—शत्रुसैन्येषु, प्रतिरण—प्रतिसङ्ग्रामं, खलनितेषु—पराजितेषु सत्सु, सन्ना—चैतन्यम्, अवाप्य—प्राप्य, स्वसैन्यभङ्गं दृष्ट्वा अतिक्रुद्धस्य जरासन्धस्य बाण-प्रहारजनितमूर्च्छातः इति भावः, सुवर्मणाऽपि—दृढकवचे-

प्रत्यर्थिषु प्रतिरंणं स्वलितेषु तेन

संज्ञामवाप्य युयुधे पुनरेव विष्णुः ॥ १२३ ॥

नापि, दुर्वारः,—वारयितुम् अशक्य, वाणविभवः,—शरवर्षणा-  
तिशयं यस्य तेन, लोकोत्तरः,—अलौकिकः, अतिप्रशस्त  
इत्यत्र, अन्वयः,—वंशः, तस्मात् भवति इति तथोक्तेन  
अपि, [पुरा बृहद्रथो नाम नृपतिः शिवमाराध्य तत्रसा-  
देन इया. पत्राः एव एक पुत्रं शिवाशसम्भूतं लेभे ।  
स च राजपत्नीभ्याम् अर्द्धशः प्रसूतः शवरूपः एवाभवत् ।  
तद्वन्ताक्यं तत् शवखण्डद्वयं ताभ्यां श्मशाने प्रक्षिप्तम् ।  
अथ श्मशानवासिनी जरा नाम राक्षसी तत् खण्डद्वयं  
योजयामास । ततश्चासी सद्यः सजीवो जातः, दत्तश्च  
तया जरया तत्पित्रे । तस्मात् असौ जरासन्ध इति  
संज्ञामवापिति तदन्वयस्य लोकोत्तरत्वम् इति बोध्यम् ] धीव-  
रेण—बुद्धिश्रेष्ठेन, तेन—जरासन्धेन, पुनरेव—पुनरपि, युयुधे  
—युद्धं चकार । अत्र सुवर्मणाऽपि दुर्वारबाणविभवेन “दुष्टः,—  
अन्धः, वारबाणस्य—वर्मणः, विभवः,—प्रभावः, यस्य तथा-  
भूतेन” इति, एवञ्च यः दुर्वारबाणः वर्तते, स कथं सुवर्मा ? तथा  
लोकोत्तरान्वयभुवाऽपि धीवरेण “कैवर्त्ते दासधीवरी” इत्यम-  
रोक्त्या मत्स्यजीविजातिभेदेन इत्यर्थः, प्रतीयते, एवञ्च यः  
लोकोत्तरान्वयभूः (प्रशस्तकुलसम्भूतः) स कथं धीवर ? इति  
च आपाततः शब्दश्रवणमात्रेण विरुद्धतया प्रतीयते इति  
विरोधः ; परिहारस्तु व्याख्यात एवेति बाध्यम्, इति शब्दकृतः  
विराधानुद्धारः । इह अनुचितार्थोऽपि जुगुप्साव्यञ्जकतया  
अश्लीलार्थोऽपि वा उपात्तो धीवरशब्दः श्लेषमहिम्ना युज्यते ।  
वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

अथंक्रतमुदाहरणम्,—

येनाक्रान्तं सिंहासनमरिभूभृच्छिरांसि विनतानि ।  
क्षिप्ता युधि शरपङ्क्तिः कौर्त्तिर्याता दिगन्तेषु ॥ १२४ ॥

अवसरमाह,—

यत्रार्थान्तरमुत्कृष्टं सम्भवत्युपलक्षणम् ।

प्रस्तुतार्थस्य स प्रोक्तो बुधैरवसरो यथा ॥ १२५ ॥

अर्थविरोधम् उदाहरति, धेनेति ।—येन राज्ञा इत्यर्थः, सिंहासन—श्रेष्ठासन, राजासनमिति यावत्, आक्रान्तम्—अधिष्ठितम्, तथा अरिभूभृता—शत्रुनृपाणा, शिरांसि—मस्तकानि, विनतानि—अवनति गतानि, तेषा पराजयकरणादिति भावः. युधि—युद्धे च, शरपङ्क्तिः,—बाणपरम्परा, अनेकशः शस्त्रवृष्टिरिति यावत्, क्षिप्ता—पातिता, प्रहृतेत्यर्थः, तस्य पुनः कौर्त्तिः,—यशः, सिंहासनाधिरोहणादिजनित इति भावः, दिगन्तेषु—चतुर्दिक्षु इति भावः, याता—गता, दिगन्तव्याप्तेति भावः । यत् आक्रान्तं भवति तदेव अवनतं भवति, इति दृश्यते, अत्र तु सिंहासनस्य आक्रमणम् इति तस्यैव नमनम् उचितं; किन्तु तद्वैपरोत्येन शत्रुशिरोनमनमुक्तम् इति, तथा यद् वस्तु क्षिप्यते तदेव अन्यत्र याति, अत्र तु शरक्षेपे शराणामेव दिगन्तममनम् उचित, किन्तु तद्वैपरीत्येन कौर्त्तेः दिगन्तगमनमुक्तम् इति च अर्थपर्यालोचनया आपाततः विरुद्धम् आभाति इति अर्थविरोधः । परिहारस्तु पराक्रमातिशयशालिनः शासनाधिकारे शत्रूणा भग्नोक्ताहतया शिरोनमन, शराणा क्षेपे जायमाने पुनः प्राणत्राणार्थिभिः शत्रुभिः दिगन्तसमाश्रयण कृतं, तैः सम कौर्त्त-दिगन्ते व्याप्तेत्यर्थसिद्धम् । आर्या वृत्तम् ॥ १२२—१२४ ॥

अवसरालङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन् स्थले,

• उदाहरति,—

स एष निश्चितानन्दः स्वच्छन्दतमविक्रमः ।

येन नक्तञ्चरः सोऽपि युद्धे वर्वरको जितः ॥१२६॥

प्रस्तुतार्थस्य—प्रकृतार्थस्य, उक्लृष्ट—प्रसिद्धम्, असाधारण-  
मित्यर्थः, अर्थान्तरम्—अर्थविशेषः, उपलक्षण—दृष्टान्तविधया  
सङ्क्षेपेण बोधकमित्यर्थः, सम्भवति—सञ्जायते, सः तुभैः,—  
पण्डितैः, अवसरः,—अवसरनामालङ्कारः, प्रोक्तः,—कथितः ।  
यथेति उदाहरणनिर्देशार्थं बोध्यम् ।

अवसरालङ्कारमुदाहरति, स एष इति ।—येन—राजा  
इति यावत्, सः,—दुर्जयत्वेनातिप्रसिद्ध इत्यर्थः, वर्वरकः,—  
तन्नामा कश्चित्, नक्तञ्चरः,—राक्षसः, अपि युद्धे—आह्वये,  
जितः,—पराभूतः, निहत इत्यर्थः, निश्चितः,—अमन्दिग्धः,  
जयप्राप्तेरवश्यम्भावादिति भावः, आनन्दः,—आमोदः, जय-  
जनितः आह्लाद इति यावत्, यस्य तादृशः, अतिशयपरा-  
क्रान्तनिशाचरघातकतया यः न कदाचित् परिभूयते इति  
भावः, [ इह “निश्चितानन्दः” इत्यत्र “निश्चयानन्दः” इति  
पाठे—निश्चयेन—जयलाभस्यावश्यभावेन, आनन्दः,—आह्लादः  
यस्य तादृश इत्यर्थः ] स्वच्छन्दतमः,—स्वाधीनतमः, अति-  
शयेन स्वतन्त्र इति यावत्, विक्रमः,—पराक्रमः, यस्य स  
तथोक्तः, सः एषः,—दृश्यमानः, राजा जयति इति शेषः ॥  
अत्र अलौकिकपराक्रमशालिनः राज्ञः प्रसिद्ध जयलक्षणं  
प्रस्तुत, तदर्थं महाशक्तिशालिनक्तञ्चर-वर्वरकनिधनरूप-  
मुक्लृष्टमर्थान्तरं दृष्टान्ततया सङ्क्षेपतो विशेषितमिति अव-  
सरालङ्कारसङ्गतिः । यद्यपि काव्यप्रकाशकारादिभिरेयमलङ्कारो  
नाङ्गीकृतः, तथाऽपि चित्रमीमांसाकारेण तत्तन्मतमपाकृत्य

यत्र निर्द्धारितात् सारात् सारं सारं ततस्ततः ।

निर्द्धार्यते यथाशक्ति तत् सारमिति कथ्यते ॥ १२७ ॥

उदाहरणम्,—

संसारे मानुष्य सार मानुष्यके तु कौलीन्यम् ।

कौलीन्ये धर्मित्व धर्मित्वे चापि सदयत्वम् ॥ १२८ ॥

स्फुटमय समादृत. इत्यस्माभिरप्याद्रियते ; तथा, हि चित्र-  
मीमांसा,—“दृष्टान्तत्वेन यत्रार्थः प्रस्तुतोऽवसरस्तु सः” इति ।  
पथ्यावक्तव्यम् ॥ १२५।१२६ ॥

अवसरप्राप्त सारालङ्कारं लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—यस्मिन्  
अलङ्कारे, ततः ततः,—तस्मात् तस्मात्, निर्द्धारितात्—विविच्य  
निरूपितात्, सारात्—उत्कृष्टात् वस्तुन इत्यर्थः, सार सारम्  
—अत्युपादेयमंशमिति यावत् ; यद्वा,—यत्र, ततः,—तस्मात्,  
निर्द्धारितात्—निरूपितात्, सारात्—उत्कृष्टाद् वस्तुनः, सारम्  
—उत्कृष्टतरं, वस्तु अस्ति इति शेष, एव ततः,—तस्मात्,  
उत्कृष्टतरादपि इत्यर्थ, सारं, यथाशक्ति—सामर्थ्यान्तरूप, स्व-  
प्रतिभानुसारमिति यावत्, निर्द्धार्यते—निरूप्यते, तत् सारम्  
—सारनामाऽलङ्कारः, इति कथ्यते—उच्यते ॥ १२७ ॥

सारालङ्कारमुदाहरति, संसारे इति ।—संसारे—जगति,  
स्वादृष्टोपनिबद्धदेहपरिग्रहे, प्राणिजन्तानि इत्यर्थो वा,  
(प्राण्युत्पादे संसरणम्” इत्यमरः) मानुष्य—मानवत्व, मनुष्यस्य  
पशुप्रभृतितो भेदानुमापका धर्म इति यावत्, सारम्—उत्कृष्ट,  
मानुष्यके—मानवत्वेऽपीत्यर्थः, कौलीन्यं—कुलोन्ता, सत्कुल-  
प्रसूतत्वमित्यर्थः, सारम् इति सर्वत्र अन्वेति, कौलीन्ये—सद्-  
वशोद्धतत्वे, धर्मित्वं—धर्मशीलत्व, धर्माचरणपरायणत्वमित्यर्थः,  
तथा, धर्मित्वे—धर्मपरायणत्वे चापि, सदयत्वं—सहृदयत्व,

पदैस्तैरेव भिन्नैर्वा वाक्यं वक्तव्येकमेव हि ।

अनेकमर्थं यत्रासौ श्लेष इत्युच्यते यथा ॥ १२६ ॥

उदाहरणे —

आनन्दमुक्त्वासयतः समन्तात्

करैरसन्तापकरैः प्रजानाम् ।

दयालुत्वमित्यर्थः, दुःखसङ्कलेऽतिगहनेऽप्यस्मिन् समारे सर्वे-  
सारनिदानतया मनुष्यत्वमेव स्पृहणीय, नीचकुलमभवे तदपि  
न रुचिकरमिति तत्रापि कौलीन्यं स्पृहणीय, तदपि चेत्  
असाधारण्यवस्थापकधर्मानुप्राणित स्यात्, तदैव शोभाति-  
शयमावहेदिति तत्रापि धर्म एव स्पृहणीयः, धर्मेष्वपि दया-  
धर्म एव काम्य इति तत्रापि दयालुत्वमेव अग्रगण्यमिति समु-  
दितार्थे । अत्र यथापूर्वं निर्द्धारितात् मनुष्यत्वादेः सारात्  
उत्तरोत्तरं कौलीन्यादेः सारत्वं निर्णयिते इति सारालङ्कार-  
सङ्गतिः । आख्यां वृत्तम् ॥ १२८ ॥

अवसरप्राप्तं श्लेषालङ्कारं लक्षयति, पदैरिति ।—यत्र—  
यस्मिन्नलङ्कारे, एकम्—अभिन्नम्, एव वाक्य—पदकदम्बात्मक  
वचनमित्यर्थः, तैः एव—अभिन्नताप्राप्तैरेव, सहिता-महिम्ना  
रूपान्तरेणापरिणतैः सङ्गिरेवेति यावत्, भिन्नैः वा—भिन्न-  
रूपता प्राप्तै वा, सहिता-महिम्ना रूपान्तरं गतैर्वेति यावत्,  
पदैः,—सुप् तिङन्तशब्दैः, अनेक—बहु, अर्थम्—अभिधेयं,  
वक्ति—अभिधेया प्रतिपादयति, अनो—उक्तं, श्लेष,—  
श्लेषनामालङ्कारः, इति उच्यते—कीर्त्यते । यथा इति उदा-  
हरणनिर्द्देशार्थकमव्यय बोध्यम् ॥ १२६ ॥

तत्रादी अभिन्नैरेव पदैः श्लेषम् उदाहरति, आनन्दमिति ।



यस्योदये क्षीभमवाप्य राज्ञो

जग्राह विलां किल सिन्धुनाथः ॥ १३० ॥

कुर्वन् कुवलयोल्लासं रम्याम्भोजश्रियं हरन् ।

रेज राजाऽपि तच्चित्रं निशान्ते कान्तिमत्तया ॥ १३१ ॥

—सिन्धुनाथः,—सिन्धो,—सिन्धुदेशस्य, तथा सिन्धुना—  
नदीना, (“देशे नदविशेषेऽथै सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियाम्” इत्य-  
मरः) नाथः,—अधीश्वरः, पतिश्च, सिन्धुराजः समुद्रश्चेत्यर्थः,  
समन्तात्—परितः, सर्व्वप्रकारैरित्यर्थः, असन्तापकरैः,—  
अक्लेशमाधकैः, पक्षे,—उत्तापाजनकैः सन्तापनिवर्त्तकैरित्यर्थः,  
करैः,—बलिभिः, राजग्राह्यभागैरित्यर्थः, पक्षे—किरणैः, (“बलि-  
हस्ताशत्रः करा.” इत्यमरः) प्रजानां—जनानां, प्रकृतिवर्गा-  
णामित्यर्थः, अन्यत्र साधारणजनानामित्यर्थः, आनन्द—हर्षम्,  
उल्लासयतः,—उत्पादयतः, [इह उत्पूर्व्वस्य लासयतेरानन्दजन-  
कत्वार्थकत्वेऽपि पुनः कर्मस्वरूपस्य आनन्दमित्यस्य पृथगुपा-  
दानात् गानं गायतीत्यादिवत् धातोः उत्पादकत्वमात्रमर्थः  
बोध्यः ] यस्य राज्ञः,—नृपतेः, पक्षे—चन्द्रस्य, (“राजा प्रभौ  
च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ” इति मेदिनी) उदये—उन्नतौ,  
पक्षे—अभ्यङ्गमे इत्यर्थः, क्षीभं—पराभव, पक्षे—स्ववृद्धिजन्य-  
चापत्यम्, अवाप्य—प्राप्य, विलां—कालं, पक्षे—तटभूमिं,  
(“विला काले च सीमायामभ्यः कूलविकारयोः” इति मेदिनी)  
जग्राह—कथमपि अतिवाहयामामित्यर्थः, पक्षे—आश्लिष्टवानि-  
त्यर्थः ; किलेति प्रसिद्धौ । अत्र एकस्यैव वाक्यस्य अभिन्नैरेव  
तत्तत्पदैः नृपति-समुद्रयोर्वर्णनेन अनेकार्थकत्वमिति श्लेष-  
सङ्गतिः । इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्योरुपजातिः वृत्तम् ।

भिन्नपदैः श्लेषम् उदाहरति, कुर्वन्त्रिति ।—राजा—कश्चित्

• समुच्चयमाह,—

एकत्र यत्र वस्तूनामनेकेषां निबन्धनम् ।

अत्युत्कृष्टापकृष्टानां तं वदन्ति समुच्चयम् ॥ १३२ ॥

नृपतिः, पक्षे—चन्द्रः, अपि निशान्ते—गृहे, पक्षे—निशायाः,—  
 रजन्या, अन्ते—अवसाने, प्रभाते इत्यर्थः, ( “निशान्तस्त्रिषु  
 शान्ते स्यात् क्लीवन्तु भवनोषसोः” इति मेदिनी ) कुः,—पृथ्वी,  
 ( “गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी” इत्यमरः ) तस्याः वलयस्य—मण्ड-  
 लस्य, भूमण्डलस्य इत्यर्थः, तद्वासिनो जनसमूहस्येति यावत्,  
 उल्लासम्—अभ्युदयम्, आनन्दमिति यावत् अन्यत्र,—कुवलय-  
 नाम्—उत्पलानाम्, उल्लास—विकासमित्यर्थः, कुर्वन्—जन-  
 यन्, कान्तिमत्तया—सुरूपतया, पक्षे—द्युतिविशिष्टतया,  
 रम्या—मनोहारिणी, भोजस्य—तदाख्यनरपते, श्रिय—लक्ष्मीं,  
 सौन्दर्यमित्यर्थः, अन्यत्र,—रम्याणा—मनोज्ञानाम्, अम्भोजाना  
 —जलजाना, पद्मानामित्यर्थः, श्रिय—शोभा, हरन्—मुष्णन्,  
 अधरीकुर्वन् इति यावत्, रेजे—शुशुभे, तत् चित्रम्—आश्चर्यम् ।  
 अत्र कुवलयोल्लासम् इति राजपक्षे—कुः,—पृथ्वी तस्या वलयं,  
 चन्द्रपक्षे—कुवलयानि—उत्पलानि इति, तथा रम्याम्भोजश्रियम्  
 इति राजपक्षे—रम्या भोजश्रिय, चन्द्रपक्षे—रम्याम् अम्भोज-  
 श्रियम् इति, तथा निशान्ते इति राजपक्षे—निशान्ते—गृहे,  
 चन्द्रपक्षे—निशाया. अन्ते—अवसाने, इति भिन्नानि पदानि ।  
 तदेवं भिन्नैः पदैरनेकार्थस्य प्रतिपादनम् इति भिन्नपदैः  
 श्लेषसङ्गति । अयञ्च सभङ्गश्लेषो विरोधालिङ्गित इति बोध्यम् ।  
 पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १३०—१३१ ॥

अथावसरप्राप्त समुच्चयालङ्कार लक्षयति, एकत्रेति ।—यत्र  
 —यस्मिन् अलङ्कारे, एकत्र—एकस्मिन् पद्ये गद्ये वेत्यर्थः, अने-

आद्योदाहरणम्,—

अणहिल्लपाटलं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः ।

श्लोकलशनामधेयः करो च जगतीह रत्नानि ॥ १३३ ॥

द्वितीयोदाहरणम्,—

ग्रामे वासो नायको निर्विवेकः

कौटिल्यानामेकपात्र कलत्रम् ।

केषां—ब्रह्मनाम्, अत्युत्कृष्टापकृष्टानाम्—अत्युत्कृष्टानाम्—  
अत्युपादेयानाम्, अत्यपकृष्टाना—अतिनिकृष्टानाञ्च, वस्तूनाम्  
—पदार्थानां, निबन्धन—रचन, भवेदिति शेषः, तं—तादृशं,  
समुच्चय—समुच्चयनामानमलङ्कारमित्यर्थः, वदन्ति—कथ-  
यन्ति ; अत्युत्तमान्यत्यधमानि च वस्तूनि एकत्र यत्र समुच्चय  
प्रतिपाद्यन्ते, स समुच्चयो नामालङ्कार इति पर्यवसितार्थः ।  
तथा चोक्त रसगङ्गाधरकृता पण्डितराजेन,—“वस्तून्थनेक-  
रूपाणि समुच्चयोदितानि चेत् । स स्यात् समुच्चयो नाम  
गदितः काव्यवित्तमै ॥” इति ॥ १३२ ॥

एकत्र उत्कृष्टवस्तुनिबन्धनकृत समुच्चयम् उदाहरति,  
अणेति ।—अणहिल्लपाटल—तदाख्य, पुरं—नगर, तथा कर्ण-  
देवनृपसूनुः,—कर्णदेवाख्यराजेन्द्रस्य पुत्रः, जयसिंहनामा इत्या-  
शयः, अवनिपतिः,—राजा, एव श्लोकलशनामधेयः,—श्रीकल-  
शाख्यः, करो—हस्ती, च एते इह—अस्मिन्, जगति—भुवने,  
रत्नानि—रत्नभूता इति भावः । अत्र उत्कृष्टानां ब्रह्मनामेकत्र  
निबन्धनम् इति प्रथमसमुच्चयसङ्गतिः । आर्या छन्दः ॥ १३३ ॥

एकत्र अपकृष्टवस्तुनिबन्धनकृत समुच्चयम् उदाहरति, ग्रामे  
इति ।—ग्रामे—कुंक्षिते जननिवासे, यत्र किमपि प्रयोजनीय  
सुखसाधन वस्तु न लभ्यते, तथाविधे देशे इति यावत्, वासः,  
—स्थितिः, तथा निर्विवेकः,—सदसद्विचारपरिमूढः, सुखः

नित्य रोगः पारवश्यञ्च पुसा-

मेतत्सर्व्वं जीवतामेव मृत्युः ॥ १३४ ॥

अप्रस्तुतप्रशंसामाह,—

प्रशंसा क्रियते यत्राप्रस्तुतस्यापि वस्तुनः ।

अप्रस्तुतप्रशंसां तामाहुः कृतधियो यथा ॥ १३५ ॥

इत्यर्थ, नायकः,—अधिपतिः, एवं कौटिल्याना—कौर्याणाम्,  
एकम्—अद्वितीयं, पात्रम्—आस्यद, कलत्र—पत्नी, तथा नित्यं  
—सतत, रोगः,—पीडा, तथा पारवश्यञ्च—पराधीनता च,  
एतत्—पूर्व्वीकृतरूप, सर्व्वं—सकलं, जीवता—प्राणान् धार-  
यतामपि इत्यर्थः, पुसा—मानवानां, मृत्युरेव—मरणमेव, एता  
दृशानां जनाना जीवनमपि मरणतुल्यम् इत्यर्थः । अत्र बहूनाम्  
अपकृष्टानामेव एकत्र निबन्धनम् इति द्वितीयसमुच्चयसङ्गतिः ।  
शालिनौ वृत्त—“मात्तौ गौ चेच्छालिनौ वेदलोकौ” इति  
तल्लक्षणात् ॥ १३४ ॥

अथावसरप्राप्तमप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति, प्रशंसेति ।—यत्र  
—यस्मिन् अलङ्कारे, अप्रस्तुतस्य अपि—अप्रकृतस्य अपि,  
वस्तुनः,—पदार्थस्य, प्रशंसा—स्तुतिः, सोत्कर्षवर्णनमि-  
त्यर्थः, प्रस्तुतस्य प्रशंसार्थमिति भावः, क्रियते,—विधीयते,  
कृतधियः,—पण्डिता, ता—तादृशमित्यर्थः, [तामिति विधेय-  
प्राधान्ये स्त्रीत्वम्, अन्यथा पुलिङ्गयच्छब्दवाच्यपरामर्शकतया  
पुंस्त्वस्यैवं उचितत्वात्] अप्रस्तुतप्रशंसा,—अप्रस्तुतप्रशंसाख्य-  
मलङ्कार, यथा—तत्त्वेनेत्यर्थः, आहुः,—कथयन्ति ! तथा चोक्त  
वृत्तिवार्त्तिककारैः,—“प्रस्तुतस्य प्रशंसायै यत्राप्रस्तुतमसनम् ।  
अप्रस्तुतप्रशंसा सा” इति । अथवा—यथेति उदाहरणप्रदर्श-  
नार्थं बोध्यम् ॥ १३५ ॥

उदाहरति,—

स्वैरं विहरति स्वैरं शैते स्वैरञ्च जल्पति ।

भिच्चुरेकः सुखी लोके राजचोरभयोञ्जितः ॥ १३६ ॥

एकावलीमाह,—

पूर्वपूर्वार्थवैशिष्ट्यनिष्ठानामुत्तरोत्तरम् ।

अर्थानां या विरचना बुधैरेकावली मता ॥ १३७ ॥

उदाहरति, स्वैरमिति ।—लोकै—जगति, एकः,—केवल',  
भिच्चु,—सन्ध्यासी, अकिञ्चनः वा, 'राञ्च'—अपराधिनः दण्ड-  
विधायकात् नृपतेरित्यर्थ, चौरात्—तस्कराच्च, यद् भयं—  
वास, तेन उञ्जितः.—परित्यक्तः, सन्ध्यासी दरिद्रो वा कस्मि-  
न्नपि विषयकर्मणि अलिप्ततया अपराधाऽसम्भवात् न कदाचि-  
न्नृपतेर्विभेति, न वा ऐश्वर्यसम्बन्धविरहात् तस्करात् तस्यति  
इति भाव, अत एव सुखी—निःशङ्कतया सानन्द सन्, स्वैरं—  
स्वच्छन्द, यथेच्छ यथा स्यात् तथेत्यर्थ, विहरति—विचरति,  
स्वैर—स्वच्छन्द, शैते—निद्राति, स्वैरं—स्वाभिप्रायानुरूप, यदा  
इच्छति तदैव इत्यर्थः, जल्पति—कथयति च, स्वातन्त्र्यस्वैवं  
सर्वसुखसाधनतया ससार्थपेक्षया निष्कञ्चनो भिच्चुरेवास्मिन्  
संसारे सुखीति भावः । अत्र “अशेषलेशोपहृता राजतस्करा-  
द्यपद्रुता सर्वथा अस्वतन्त्रा ससारिण एव दुःखिनः” इति  
प्रस्तुतार्थे वक्तव्ये “भिच्चुरेव एको निरुपद्रवतया सुखी” इत्यप्रस्तु-  
तस्य वस्तुनः प्रशसनमिति अप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारसङ्गतिः । पथा-  
वक्तव्यं ॥ १३६ ॥

अथातसरप्राप्तम् एकावलीं लज्जयति, पूर्वैति ।—पूर्वपूर्वा-  
र्थानां—पूर्वं पूर्वं निर्दिष्टानां वस्तूनां, वैशिष्ट्ये—विशिष्टत्वे,  
उत्कृष्टत्वे इति यावत्, निष्ठा—निश्चितरूपेण स्थितिर्यत्र तयो-

सुदाहरणम्,—

देशः समृद्धनगरो नगराणि च सप्तभूमिनिलयाणि ।

निलयाः मलीलललना ललनाश्चात्यन्तकमनीयाः ॥ १३८ ॥

ज्ञाना, यथापूर्वम् उत्कृष्टतासूचकतया स्थितानामित्यर्थः, अर्थाना—वस्तूनाम्, उत्तरोत्तरं—परं पर, या विरचना—विशिष्टतया रचना, शोभनो विन्यास इत्यर्थः, सा वुधैः,—विद्वद्भिः, एकावली—एकावलीनामालङ्कृतिः, मता—कथिता ॥ १३७ ॥

एकावलीमुदाहरति, देश इति ।—देशः,—कुरुपाञ्चालादिनाम्ना प्रसिद्धो जनपद इत्यर्थः, समृद्धानि—सम्पन्नानि, नगराणि—“पुण्यक्रियाऽऽदिनिपुणैश्चातुर्वर्ण्यजनैर्युतम् । अनेकजातिसम्बद्ध नैकशिल्पिसमाकुलम् ॥ सर्व्वदैवतसम्बद्ध नगरत्वभिधीयते ॥” इत्युक्ताः पुरभेदा इत्यर्थः, यस्मिन् तथाभूतः, श्रेष्ठ इति शेषः, नगराणि च—तथाविधानि पुराणि च, सप्तभूमयः,—“कोशस्थान गर्भगृहं केलिशैली महानसम् । ...इत्येते सप्त भूभागा यत्र तत्र वसेद्गृही ॥” इति काव्यालङ्कारोक्ताः सप्त भूभागविशेषा इत्याशयं, ताभिः उपलक्षिताः, निलयाः,—आवासगृहाणि, येषु तथोक्तानि, नगराणि तथाविधानि चेत्, तदा उत्कृष्टानि भवन्ति इत्यर्थः, यद्वा—सप्त—सप्ततरूपाः इत्यर्थे, भूमयः,—स्थानानि, गृहरूपाणीति यावत्, (“भूमिर्वसुन्धराया स्यात् स्थानमात्रेऽपि च स्त्रियाम्” इति मेदिनी) ता एव, निलया,—आवासगृहाणि येषु तथाविधानि, श्रेष्ठानीति शेषः, निलयाः,—गृहाणि च, लीला—“अङ्गैर्वेशैरलङ्कारैः प्रेमभिर्वचनैरपि । प्रीतिप्रयोजितैर्लीला प्रियस्यानुकृति विदुः ॥” इत्युक्तलक्षणा रमणीजनसात्त्विकालङ्कारविशेषः, तथा सह वर्त्तमानाः, सविलासाः इत्यर्थः, ललनाः,—

अनुमानमाह,—

प्रत्यक्षालिङ्गितो यत्र कालत्रितयवर्तिनः ।

लिङ्गिनो भवति ज्ञानमनुमानं तदुच्यते ॥ १३६ ॥

अतीतानुनानोदाहरणम्,—

नूनं नद्यस्तदाभूवन्नभिषेकान्धसा प्रभोः ।

अन्यथा कथमेतासु जन. स्नानेन शुध्यति ? ॥ १४० ॥

रमण्य, येषु तथाभूता, श्रेष्ठा इति शेष, ललनाश्च—रमण्यश्च, अत्यन्तक्रमनीयाः,—सातिशयकान्तिमत्तया अतीव रम्याः । अत्र पूर्वपूर्वोक्तानां देश नगर-निलय-ललनारूपाणामर्थानाम् उक्त्वा प्रवृत्तनाथम् उत्तरोत्तरं समृद्धनगर-सप्तभूमिनिलय-सलील-ललन-अत्यन्तक्रमनीयशब्दानामुपन्यासात् एकावल्यलङ्कार-सङ्गतिः । आर्या वृत्तम् ॥ १३८ ॥

अथावसरप्राप्तमनुमानं लक्षयति, प्रत्यक्षादिति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, प्रत्यक्षात्—साक्षात् परिदृश्यमानात्, लिङ्गतः,—विज्ञात्, साधनादिति यावत्, कालत्रितयवर्तिनः,—अतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयसम्बन्धवत्, लिङ्गिनः,—अनुमेयस्य वस्तुनः, साध्यस्येति यावत्, ज्ञान—प्रत्ययः, भवति—जायते, तत्, अनुमान—तन्नामालङ्कारः, उच्यते—कथ्यते ॥ १३६ ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् अतीतसाध्यज्ञानरूपमनुमानमुदाहरति, नूनमिति ।—नूनं—निश्चित, निःसंशयमित्यर्थः, तदा—तस्मिन् काले, अभिषेककाले इत्यर्थः, प्रभो,—बुद्धदेवस्य, कस्यचित् नृपतेर्वा, अभिषेकान्धसा—अभिषेकसाधनजलेन, नद्य,—सरितः, अभूवन्—आसन्, अजायन्त इत्यर्थः, अन्यथा—अन्यप्रकारे सति, नो चेदेव तर्हीत्यर्थः, जनः,—लोकः,

## चतुर्थः परिच्छेदः ।

अनगतानुमानोदाहरणम्,—

जम्भभित्ककुभि ज्योतिर्यथा शुभ्र विजृम्भते ।

उदेष्यति तथा मन्ये खलः सखि । निशाकरः ॥ १४१ ॥

एतासु—आसु नदीषु इत्यर्थः, स्नानेन—अवगाहनेन, कथं—केन / प्रकारेण, शुध्यति ?—पूतो भवति ? गङ्गादिजलावगाहनेन लोकानां पवित्रतादर्शनात् एतदेवानुमीयते, यत् गङ्गादीनां सलिलानि नूनं प्रभो अभिषेकसलिलकृतानीति, अन्यथा तेषाम् अभिषेकसलिलवत् पावन्त्वासम्भवादिति भावः । अत्र प्रत्यक्षात् नदीजलस्नानेन परिशुद्धिरूपात् साधनात् अभिषेकजलेन नदीनामुत्पत्तिरूपस्य अतीतकालवर्तिनः साध्यस्य ज्ञान सञ्जातमिति अनुमानालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्त्र वृत्तम् ॥ १४० ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् अनागतवस्तुनो ज्ञानरूपमनुमान-मुदाहरति, जम्भभित्ति ।—हे सखि ।—महर्षि । जम्भ-भिदः,—जम्भासुरनिहन्तु, इन्द्रस्यैत्यर्थः, ककुभि—दिशि, पूर्व-स्या दिशोति भावः, ( “दिशस्तु ककुभ काष्ठा ” इत्यमरः )  
-यथा—यस्मादित्यर्थः, शुभ्र—धवल, निर्मलमित्यर्थः, ज्योतिः,—प्रभा, विजृम्भते—उद्वेष्टति, प्रकाशते इत्यर्थः, तथा—तस्मादित्यर्थः, खल—क्रूर, निशाकर,—चन्द्र, उदेष्यति—उदय यास्यति, अचिरमेव प्रकाशिष्यते इत्यर्थः, इति—इत्य, मन्ये—सम्भावयामि, पूर्वस्या दिशि निर्मलप्रभाप्रकाशात् एतदेव अनुमायते, यत् अचिरमेव विरहानलमन्दीपक-सुधाकर. उदेष्यतीति विरहिणा त्वम् अवहिता भवेति भावः । अत्र प्रत्यक्षात् शुभ्रज्याति प्रकाशरूपात् लिङ्गात् ( साध-नात् ) भाविन निशाकरोदयरूपस्य क्षिप्रिन. ( साध्यस्य ) ज्ञान सञ्जातमिति अनुमानालङ्कारः । पथ्यावक्त्र वृत्तम् ॥ १४१ ॥



वर्तमानानुमानोदाहरणम्,—

मुखप्रभावाधितकान्तिरस्या दोषाकरः किङ्करतां विभर्त्ति ।

तल्लोचनश्रीहृतिसापराधान्यञ्जानि नो चेत् किमयं क्षिणोति? ॥ १४२ ॥

परिसङ्ग्रामाह,—

यत्र साधारणं किञ्चिदेकत्र प्रतिपाद्यते ।

अन्यत्र तन्निवृत्त्यै सा परिसङ्ग्रोच्यते बुधैः ॥ १४३ ॥

प्रत्यक्षात् साधनात् वर्तमानस्य वस्तुनो ज्ञानरूपमनुमान-  
मुदाहरति, मुखेति ।—दोषाकरः,—दोषा—रात्रि करोति  
इति दोषाकरः, चन्द्र इत्यर्थः, [दोषांशा—दूषणानाम्, आकरः  
इत्यपि व्यज्यते ] मुखस्य—एतद्वदनस्येत्यर्थः, प्रभया—कान्त्या,  
बाधिता—निर्जिता, कान्तिः,—शोभा यस्य तथाभूतः मन्,  
अस्याः,—कान्तायाः, किङ्करता—दास्यं, विभर्त्ति—करोति ;  
ना चेत्—अन्यथा, अकिङ्करश्चेदित्यर्थः, अय—दोषाकरः,  
तस्याः—कान्तायाः, लोचनयोः,—नयनयोः, श्रियाः,—कान्तेः,  
हृतिः,—हरणं, तथा सापराधानि—कृतापराधानि, अञ्जानि  
—कमलानि, कि—कथं, क्षिणोति ?—पीडयति ? सङ्ग्रोचय-  
तीति यावत् ; दृश्यते हि प्रभुभक्तस्य दासस्य प्रभोर्मित्तेषु अनु-  
रागः, शत्रुषु द्वेषः, नयनशोभाहरणकृतापराधादुपजातवैराया  
अस्या रमण्या विद्वेषभाजनाना कमलाना पीडनात् एतदेव  
अनुमीयते, यदेतद्रमणोवदनविनिर्जितः चन्द्रः अस्या दास्य-  
मुपगत इति, नो चेत् कथं कमले चन्द्रस्य द्वेषः ? इति हृदयम् ।  
अत्र प्रत्यक्षात् चन्द्रस्य अन्नपीडनरूपात् लिङ्गात् ( साधनात् )  
वर्तमानकालसम्बन्धवतः लिङ्गिनः ( साध्यस्य ) दोषाकरकिङ्कर-  
त्वस्य ज्ञानमुपजायते इति अनुमानालङ्कारसङ्गतिः । उपेन्द्र-  
वच्चेन्द्रवर्द्धयार्भेलेनादुपजातिवृत्तम् ॥ १४२ ॥

अथावसरसङ्ख्या परिसङ्ग्रामा लक्षयति, यत्रेति ।—यत्र—

• उदाहरणम्—

यत्र वायु. परं चौरः पौरमौरभसम्पदाम् ।

युवानो यत्र राजन्त एकनिक्षिप्तभीतयः ॥ १४४ ॥

यस्मिन् अलङ्कारे, साधारण—सामान्य, किञ्चित्—किमपि वस्तु इत्यर्थः, अन्यत्र—अन्यस्मिन् वाक्ये, तस्य—वस्तुनः, निवृत्त्यै—निवृत्त्यर्थम्, अभावसिद्धार्थमित्यर्थः, एकत्र—एकस्मिन्नेव वस्तुनि, प्रतिपाद्यते—निबध्यते, बुधैः,—पण्डितैः, [ इह “बुधैः” इत्यत्र “यथा” इति पाठे, यथाशब्दः उदाहरणप्रदर्शनार्थको बोध्यः ] सा परिसङ्ग्रहा—तन्नामालङ्कारः, उच्यते—कथ्यते ॥ १४३ ॥

परिसङ्ग्रहामुदाहरति, यत्रेति ।—यत्र—यस्या नगर्याम् इत्यर्थः, पर—केवल, वायुः,—पवनः, पौराणि—पुरे भवानि, यानि सौरभाणि—सङ्घान्ना, तानि एव सम्पदः,—समृद्धयः, तासां चौरः,—तस्कारः, नगरशामितुः शासनगुणेन तत्र पौर-सौरभहारिणमेक पवन विहाय नान्य. काञ्चित् चौर आसौत् इति भावः, तथा, यत्र—यस्याश्चेत्यर्थः, युवानः,—तरुणाः, एकस्मिन्—एकत्र, धर्मे एवेति भावः, निक्षिप्ता—निहिता, अवलम्बितेत्यर्थः, भीतिः,—भयं, यै. तथाभूताः, राजन्ते—शोभन्ते, यत्र युवानः केवलं धर्मात् क्षिभ्युः, न अन्येभ्य इति भावः । अत्र “वायुरेव चौरः” इति कथनात्, चौर्यस्य साधारण्येऽपि अन्यस्मिन् कास्मिञ्चित् तन्निवृत्त्यर्थं केवले वायावेव तत् प्रतिपादितम् ; एव सौरभसम्पदामिव चौर इति कथनात् अन्येषु वस्तुषु तन्निवृत्तये केवलं सौरभे एव अपहरणीयता समर्थता, तथा “युवानः एकनिक्षिप्तभीतयः” इति कथनात् भीतिः सर्वसाधारण्येऽपि भीतिकारणेभ्यः सिद्ध्यन्नादिभ्यः सर्वेभ्यो निवृत्त्य सा केवलं धर्म एव स्थिता, इति परि-

प्रश्नोत्तरमाह,—

प्रश्ने यत्रोत्तरं व्यक्तां गूढं वाऽप्यथवोभयम् ।

प्रश्नात्तरं—

सङ्घं लक्षयति,—

—तथोक्तानां संसर्गं सङ्घं विदुः ॥ १४५ ॥

सङ्घासङ्घतिः । [ अत्र उत्तरार्द्धे “युवानश्च क्लतक्रोधादेव बिभ्यु-  
र्बधूजनात्” इति पाठे तु—युवानः,—युवजनाः, क्लतक्रोधात्  
—क्लतः,—विहितः, क्रोधः,—मानरूपः कोपः, सपत्नीसङ्घचिह्न-  
दर्शनेन इति भावः, येन तादृशात्, बधूजनात्—मानिनी-  
जनात्, एव बिभ्युः—बिभ्यति स्त्रैत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे—“युवा-  
नश्च बिभ्यु” इत्युक्त्या सकलजनसाधारणस्यापि भयस्य युवजने-  
तरेषु बालेषु वृद्धेषु च निवृत्त्यर्थं केवल युवकेष्वेव प्रतिपादनं  
विहितम्, तथा “बधूजनात् बिभ्यु” इत्यभिधानात् भीति-  
जनकत्वस्य साधारण्येऽपि अन्यत्र हिंसादिषु तन्निवृत्त्यर्थं केवलं  
सञ्जातरोषासु कामिनीष्वेव तत्र प्रतिपादितमिति लक्षणसम्-  
न्वयः ] । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४४ ॥

अथ सप्रभेदं प्रश्नोत्तरमलङ्कार, तथा सङ्घरालङ्कारश्चैकेनैव  
पद्येन लक्षयति, प्रश्ने इति ।—यत्र—यस्मिन् अलङ्कारे, प्रश्ने—  
जिज्ञासायाम्, उत्तर—प्रतिवचन, व्यक्तम्—अगूढं, वा—  
अथवा, गूढम्—अव्यक्तम्, अथवा—किंवा, उभय—व्यक्तम-  
व्यक्तश्चेत्यर्थ, स्यादिति शेष, त प्रश्नोत्तर—तन्नामालङ्कारम् ;  
तथा—एवम्, उक्ताना—समनन्तर कथितानां शब्दार्थालङ्कारा-  
णामित्यर्थ, संसर्गं—सन्मेलन, सङ्घं—तदाख्यम् अलङ्कार,  
विदुः,—जानन्ति, बुधा इति शेषः ॥ १४५ ॥

व्यक्तोत्तरं यथा,—

अस्मिन्नपारसमारसागरे मञ्जता सताम् ।

किं समालम्बनं ? साधो । रागद्वेषपरिच्छयः ॥ १४६ ॥

व्यक्तोत्तर प्रश्नोत्तरालङ्कारमुदाहरति, अस्मिन्निति ।—हे साधो !—सज्जन । अस्मिन्—दृश्यमाने, अपारससारसागरे—दुस्तरभवाच्चौ, मञ्जतां—निपतता, सता—साधूना, समालम्बनम्—आश्रयः, किम् ?—कः पदार्थः ? ( इति प्रश्नः ) । रागद्वेषपरिच्छयः,—रागः,—अनुरागः, पुत्रकलत्रादिषु आसक्तिरिति यावत्, द्वेषः,—वैरः, तयोः परिच्छयः,—सवतोभावेन नाशः, सर्वत्र समदर्शनम् इति भावः, समालम्बनमिति पूर्वोक्तान्वयः, सर्वेषां रागद्वेषपरिच्छयः एव संसारनागरादुत्तरणोपाय इति भावः, ( इति उत्तरम् ) । अत्र “किं समालम्बनम् ?” इति प्रश्ने “रागद्वेषपरिच्छयः” इति व्यक्तोत्तरस्य प्रदानात् प्रश्नोत्तरालङ्कारसङ्गतिः । अन्ये तु अत्र परिसङ्ग्रामाहुः, तथा हि,—“प्रश्नाट-प्रश्नतो वाऽपि कथितादस्तुनो भवेत् । तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द-आर्थोऽथवा तदा ॥” इति दर्पणोक्तलक्षणानुसारेण “किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्न, किं कार्यमार्थचरित सुकृत न दोष । किं चक्षुरप्रतिहत धिषणा न नेत्र, जानाति कस्तदपर सद-सद्विवेकम् ॥” इत्याद्युदाहरणेष्विव अत्रापि लक्षणसङ्गतेः । तथाच प्रश्नोत्तर नामालङ्कारान्तरं नास्त्येव । न च तर्हि उत्तरमेव तदङ्गीकार्यम् इत्याशङ्क्यम्, “—उत्तर प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि । यच्चासक्तदसम्भाव्य सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥” इत्युक्तलक्षणानुगतात् “एकाकिनौ यदबला तरुणी तयाऽऽह-मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् । क याचसे, तदिह वासमिय वराको श्वश्रूमन्मन्ववविरा ननु मूढप्रान्य ॥” इत्युक्तलक्ष्यात् अस्य भेदस्य परिस्फुटत्वात् इति । वय त्वेवं सम्भावयामः,—

गूढोत्तर यथा,—

क्व वसन्ति श्रियो नित्यं भूभृतां ? वद कोविद ।।

असावतिशयः कोऽपि यदुक्तमपि नोच्यते ॥ १४७ ॥

लक्ष्यानुसारेण लक्षणव्यवस्थेति नियमेन प्रकृतोदाहरणे  
“अस्मिन्नपारमसार—” इत्यादौ केवलस्य प्रश्नस्य उत्तर, न तु  
तन्नियमन, “किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नम्—” इत्यादौ तु  
नैवम्, इति विच्छित्तिविशेषेण अलङ्कारान्तरस्वीकारज्यायस्त्वे  
युक्तमेवास्य पृथगभिधानम् ; नवीनोत्तरालङ्कारस्वस्यैव भेदा-  
न्तरमिति । पथ्यावक्तव्यम् ॥ १४६ ॥

गूढोत्तरं प्रश्नोत्तरालङ्कारम् उदाहरति, वेति ।—हे  
कोविद ।—विद्वन् । ( “—सन् सुधीः कोविदो बुधः”  
इत्यमरः ) भूभृतां—पृथ्वीपतीना, श्रियो,—लक्ष्मणः, नित्यं—  
सतत, क्व—कुत्र, वसन्ति ?—तिष्ठन्ति ? ( इति प्रश्नः ) । असौ  
—अयं, श्रीनिवास इति यावत्, कोऽपि—असाधारणः, अनि-  
र्वचनीय इत्यर्थः, अतिशयः,—विलक्षणः पदार्थः, यद्वा,—  
अतिशयः,—शय—हस्तम् अतिक्रान्तः, हस्तेन इतस्ततः  
अन्विष्यतोऽपि पुंसः दुर्लभ इति भावः, यत्—स्थानम्, उक्तम्  
अपि—कथितम् अपि, न ऊच्यते—न ज्ञायते ; राज्ञां सम्पदः  
तत्र स्थाने तिष्ठन्ति, यत् कथितमपि लोकैः नावगन्तुं शक्यते  
इत्याशयः, ( इति अविस्पष्टोऽर्थः ) । पर्यवसाने तु असौ—  
करवाले, कोऽपि—अनिर्वचनीय इत्यर्थः, अतिशयः,—  
प्रभावः, अस्ति इति शेषः, तत्र एव श्रीः वसति इति  
गूढमुत्तरम् । अत्र “क्व वसन्ति श्रियो राज्ञाम्” इति प्रश्ने  
“खड्गे राजसम्पदा वासः” इति विवक्षितमपि उत्तरं खड्ग-  
वाचकं अस्ति शब्दस्य सप्तम्येकवचननिष्पन्नस्य “असौ” इति

गूढागूढोत्तर यथा,—

किमैभं श्लाघ्यमाख्याति ? पक्षिणं कः ? कुतो यशः ? ।

गरुडः कीदृशो नित्यम् ? दानवारिविराजितः ॥ १४८ ॥

पदस्य अदसशब्दस्य प्रथमैकवचनसिद्धेन “असौ” इति पदेन समतया निगूढमिति गूढोत्तरालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४७ ॥

गूढागूढोभयरूपमुत्तरालङ्कारमुदाहरति, किमिति ।— इभ, —इस्ती, तस्येदमिति ऐभम्—इभसम्बन्धीत्यर्थः, कि— किं वस्तु इत्यर्थ, श्लाघ्यम् ?—प्रशसनीयम् ? , क—किमात्मक, शब्दः,—पद, पक्षिण—खगम्, आख्याति—अभिधत्ते ? पक्षिवाचकः शब्दः क इत्यर्थ, यशः,—कीर्ति, कुतः,—कस्मात् ? भवति इति शेष, कीर्तिकारण किमस्तीत्यर्थः, गरुड,—खनामप्रसिद्ध. पक्षिविशेष., नित्य—सततं, कीदृशः ? —कथञ्छूत ? किलक्षणक इत्यर्थ, एषु चतुर्षु प्रश्नेषु यथाक्रममुत्तरमाह, दानवारिविराजितः इति ।—तत्र प्रथमस्य उत्तरं दानवारि—मदजलमिति ; द्वितीयस्य विः,—पक्षीति ; तृतीयस्य आजित, —सङ्ग्रामादिति, एतन्नयं गूढम्, चतुर्थस्य उत्तरं पुनः,—दानवारिविराजितः,—दानवानाम्—असुराणाम्, अरिः,—विष्णु, तेन विराजितः,—शोभित, इत्येतच्च व्यक्तम् । अत्र प्रथमोक्ताना “किमैभम्” इत्यादि प्रश्नत्रयाणाम् “दान-वारि” “विः” “आजित.” इत्येवरूपाणि त्रीण्युत्तराणि अक्षयार्थतया गूढानि, “गरुडः” इत्यादिकस्य चतुर्थस्य प्रश्नस्य तु “दानवारिविराजितः” इत्युत्तरं सुखनीधानुकूलतया व्यक्तम् इति प्रश्नोत्तराणां गूढागूढोभयात्मकतया गूढागूढोभयरूपप्रश्नोत्तरालङ्कारसङ्गतिः । पथ्यावक्तं वृत्तम् ॥ १४८ ॥

सदर यथा,—

ब्रह्मण्डशुक्तिसंपुडमोक्तिसमणियो प्रभासमूह इव ।

सिरिबाहड त्ति तणओ आसि वुहो तस्स सोमस्स ॥ १४८ ॥

यस्यान्तराक्तानामन्येषामलङ्काराणामनभिधाने हेतुमाह,—

अचमत्कारिता वा स्यादुक्तान्तर्भाव एव वा ।

अलङ्कियाणामन्यासामनिबन्धनिबन्धनम् ॥ १५० ॥

प्राकृतेन सङ्करालङ्कारम् उदाहरति, ब्रह्मण्डेति ।—  
[ब्रह्माण्ड-शुक्ति-सम्पुट-मोक्तिकमणे. प्रभासमूह इव । श्रीवाग्भट  
इति तनय आसौद्बुधस्तस्य सोमस्य ॥ इति सङ्कतम्] । ब्रह्माण्डं  
—जगत् एव, शुक्तिः,—सुक्तास्फोटः, (“सुक्तास्फोटः स्त्रिया शुक्तिः”  
इत्यमर ) सा एव सम्पुट,—आधारविशेषः, तस्य तत्र वा  
मोक्तिकमणि,—सुक्कारत्न, तथाभूतस्य, तस्य—प्रसिद्धस्येत्यर्थः,  
सोमस्य—तदाख्यस्य वाग्भटपितुः, चन्द्रस्य च, प्रभासमूहः  
इव—दीप्तिजालमिव, श्रीवाग्भट इति—श्रीवाग्भट इत्येतन्नान्ना  
ख्यात इत्यर्थः, बुधः,—विद्वान्, तदाख्यचतुर्थग्रहस्येत्यर्थः,  
तनय,—पुत्रः, आसौत्—अवर्त्तत । ‘अत्र ब्रह्माण्डेति रूपकं,  
प्रभासमूह इवेत्युपेक्षा, सोमस्य तनय. बुध इति श्लेषः,  
साकल्येन जाति. इति चतुर्णाम् अलङ्काराणामेकत्र समवायात्  
सङ्कराख्य अयम् अलङ्कारः । अनेन च सङ्करालङ्कारोदाहरणेन  
स्वरिवयम् अभिहितं ग्रन्थकारेण इति बोध्यम् । आर्या  
हेतुम् ॥ १४८ ॥

ननु कथमेत एवालङ्काराः ? आचार्यान्तरैः अलङ्कारान्तरा-  
णामपि खोक्तत्वादित्याशङ्काया समाधानमाह, अचमत्कारि-  
तेति ।—अन्याप्तान्—अपराप्तान्, उक्ताभ्य इति शेषः, अल-  
ङ्कियाणाम्—अलङ्काराणाम्, आचार्यान्तरादृतानामन्योक्त्या-

चपसहरति,—

अर्थेन येनातिचमत्करोति

प्रायः कवित्वं कृतिनां मनःसु ।

अलङ्कियात्वेन स एव तस्मिन्

अनूह्यतां हन्त ! दिशाऽनयैव ॥ १५१ ॥

इति चतुर्थ परिच्छेद ॥ ४ ॥

दीनामित्यर्थः, अनिबन्धस्य—अनुपादानस्य, अचमत्कारिता—चमत्कारराहित्य, वैचित्र्यविशेषानाधायकत्वमित्याशयः, वा—किवा, उक्तेषु—अस्मिन्नेव ग्रन्थे कथितेषु अलङ्कारेष्वित्यर्थः, अन्तर्भावः,—अन्तर्निवेशः, एकरूपतया अभेदप्रतिपादनमित्यर्थः, एव निबन्धनं—हेतु, स्यात्—भवेत् । चमत्कारिता एव अलङ्कारबीजम्, एतदसत्त्वे अलङ्कारत्वानुदयात् नास्माभि तथाविधानामलङ्कारत्वमङ्गीकृतमिति बोध्यम्, यद्वा,—एतद्ग्रन्थोक्तेष्वेव सचमत्कारतया अलङ्कारात्मना स्वीकार्याणामस्माभिश्च अनुक्तानामन्येषामलङ्काराणाम् अन्तर्भाव ऊह्य इति भावः ॥ १५० ॥

सम्प्रति सामान्यतश्चमत्कारमेव अलङ्कारमिति वदन्नुपसहरति, अर्थेनेति ।—हन्त ।—भा इति सामान्यतः सखोधनम् ; कवित्व—काव्य, कृतिनां—सहृदयानां सामाजिकानामित्यर्थः, मन सु—चित्तेषु, प्रायः,—वाङ्मयेन, येन—यादृशेन, अर्थेन—वस्तुना, अति—अतिशयेन, चमत्करोति—वैचित्र्यमापादयति, चमत्कारकत्वेन आभाति इत्यर्थः, तस्मिन्—तत्र, काव्ये इति शेषः, स एव—तादृश एवार्थ इत्यर्थः, अलङ्कियात्वेन—अलङ्कारत्वेन, अलङ्काररूपेणेत्यर्थः, अनयैव,—एतयैव, मदुक्तया इति भावः, दिशा—रीत्या, अनूह्यता—ज्ञायताम्, अवधार्यता-



## पञ्चमः परिच्छेदः ।

रौतिमाह.—

द्वे एव रौती गौडीया वैदर्भी चैति सान्तरे ।

एका भूयःसमासा स्यादसमस्तपदाऽपरा ॥ १ ॥

मित्यर्थः, मत्प्रदर्शितालङ्कारविरहितमपि काव्य विषयवैचित्र्यात् सामाजिकानां चैतांसि चमत्करोति चेत्, सोऽपि अलङ्कारत्वेन अवगन्तव्यः, वैचित्र्यास्यैव चित्तचमत्काराधायकतया अलङ्काररूपत्वस्वीकारात् इति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ १५१ ॥

इति वाग्मटालङ्कारे चतुर्थे परिच्छेदे ॥ ४ ॥

“साधुशब्दार्थमन्दर्भम्” इत्यादिना प्रदर्शितं काव्यकरण-क्रमसाधित्य अलङ्कारमुक्त्वा साम्प्रतं क्रमप्राप्ता द्विविधा रौति-माह, द्वे इति ।—गौडीया—गाडदेशप्रचलिता, वैदर्भी—विदर्भदेशप्रचलिता, च इति द्वे एव—द्विधा भिन्ने एव, रौती,—पदाना सङ्घट्टनाविशेषरूपे इत्यर्थः, ( उक्तञ्च दर्पणे,—“पद-सङ्घट्टना रौतिरङ्गसंख्याविशेषवत्” इति ) गौडीवैदर्भीभेदाभ्या रौते वा भेदाविति निष्कर्षे, तथा सान्तरे—ते द्वे सविशेषे, अन्योन्य प्रभेदशालिन्यो इत्यर्थः, तत्र तदेवान्तरमाह, एकेति । —एका—प्रथमा गौडी, भूयांसः,—बहवः, समासा,—समस्त-पदानि यस्यां तथाभूता, समासबहुला इत्यर्थ, अपरा—द्वितीया वैदर्भी, असमस्तानि—समासवर्जितानि, पदानि—सुप्तिङन्तानि यस्या तथाभूता, समासविरहिता इत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ॥ १ ॥

गौडीरीनेरुदाहरणम्,—

दर्पोत्पाटिततुङ्गपर्वतशतग्रावप्रपाताहति-

क्रूराक्रन्ददतुच्छकच्छपकुलक्रेङ्कारघोरीकृत' ।

विश्व वनरबध्यमानपयस' सिप्रापगायाः स्फुर-

नाक्रामत्ययमक्रमेण बहुल' कल्लोलकोलाहल' ॥ २ ॥

उक्तयोद्दयोः प्रथमतो गौडीम् उदाहरति, दर्पेति ।—वर्ष-  
रेण—तदाख्येन केनचित् राक्षसेन, बध्यमानानि—रुध्य-  
मानानि, जलविहारकाले इति भावः, पयासि—जलानि  
यस्या. तथाभूतायाः सिप्रापगायाः,—तन्नामप्रसिद्धायां नद्या,  
दर्पेण—अवलेपेन, बलवत्त्वाभिमानेनेत्यर्थः, उत्पाटिता,—  
उन्मूलिता, तुङ्गा,—उन्नता, ये पर्वताः,—गिरयः, तेषां  
शतस्य—शतसङ्ख्यायाः, समूहस्येत्यर्थः, ये ग्रावाणः,—प्रस्तराः,  
उत्पाटनवेगेन चलितक्षुद्रपाषाणा इत्याशयः, ( “पाषाण-  
प्रस्तरग्रावोपलाशमान” इत्यमरः ) तेषां प्रपातेन—प्रकृष्ट-  
पतनेन, या आहतिः,—आघातः, तथा क्रूरम्—उत्कट,  
श्रुतिकठोरं यथा तथेत्यर्थः, आक्रन्दन्त,—चीत्कुर्वन्तः, आर्त्त-  
नादं विदधत इत्यर्थः, अतुच्छा,—महान्तः, ये कच्छपाः,—  
कूर्माः, तेषां कुलस्य—वृन्दस्य, क्रेङ्कारेण—स्वजात्यचितनाद-  
विशेषेण, घोरीकृतः,—रौद्रीकृतः, भयानकत्वं प्रापित इत्यर्थः,  
स्फुरन्—प्रसरन्, इतस्ततो विस्तार गच्छन्निति यावत्, बहुलः—  
प्रभूतः, कूर्मचीत्कार-कल्लोलकलकलयोः सम्मिश्रणेनेति  
भावः, अय—श्रूयमाण इत्यर्थः, कल्लोलकोलाहलः,—तरङ्ग-  
कलरवः, अक्रमेण—युगपत् इत्यर्थः, समकालमेवेति यावत्,  
विश्व—जगत्, आक्रामति—व्याप्नोति । अत्र रचनायाः  
समासबहुलत्वेन गौडीयाया रीतेर्विषयः । शार्दूलविक्रीडितं  
वृत्तम् ॥ २ ॥

वैदभ्यां उदाहरणम्, —

विप्राः प्रकृत्यैव भवन्ति लीला  
 लोकोक्तिरेषा न सृष्टा कदाचित् ।  
 यच्चुम्ब्रमाना मधुपैर्द्विजेश  
 श्लिष्यत्यसौ कैरविणीं कराग्रैः ॥ ३ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे पञ्चम परिच्छेद ।

अथ द्वितीया रीति वैदभीम् उदाहरति, विप्रा इति ।—  
 विप्राः.—ब्राह्मणाः, प्रकृत्या एव—स्वभावेन एव, लीलाः  
 —चपला, अधीरा इत्यर्थः, भवन्ति—जायन्ते, एषा—इय,  
 लोकोक्तिः,—जनप्रवादः, कदाचित्—कदापि, सृष्टा—सिथ्या,  
 न—सत्यमेवेत्यर्थः, यत्—यतः, असी—अयं, परिदृश्यमान  
 इत्यर्थः, ( इति उदित चन्द्र प्रति अङ्गुलिनिर्देशतः प्रदर्शनं  
 बोध्यम् ), द्विजेशः,—द्विजराजः, चन्द्र इत्यर्थः, ( “द्विजराजः  
 शशधरो नक्षत्रेशः क्षपाकरः” इत्यमरः ) ब्राह्मणश्रेष्ठश्च, मधुपैः,  
 —भ्रमरैः, मद्यपैश्च, चुम्ब्रमानाम्—आस्वाद्यमानमुखासृता-  
 मित्यर्थः, कैरविणीं—कुमुदिनीं, तदाख्या कामपि कामिनीञ्च,  
 कराग्रैः,—किरणाग्रैः, हस्ताग्रैश्च, श्लिष्यति—स्पृशति, आलि-  
 ङ्गति इति च ; द्विजराजस्यापि यदा ईदृक् लोलत्व, तदा  
 सामान्यद्विजाना लोलत्वे लोकोक्तिः अव्यभिचारितया यथा-  
 र्थैवेति भावः । अत्र रचनायाः प्रायेण समासरहितत्वात्  
 वैदभ्यां रीतेः विषयः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ३ ॥

इति वाग्भटालङ्कारे पञ्चम परिच्छेद ॥ ५ ॥

## षष्ठः परिच्छेदः ।

काव्ये रसानामुपयोगितामाह,—

साधुपाकेऽप्यनास्वादं भोज्यं निर्लवणं यथा ।  
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसानिह ॥ १ ॥

रसस्वरूपमाह,—

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।  
आरोप्यमाण उत्कर्षेऽस्थायी भावः स्मृतो रसः ॥२॥

साम्प्रत रसान् विवक्षु काव्ये तदुपयोगिता दर्शयति, साध्विति ।—साधुपाके अपि—सुचारुरूपेण अनुष्ठितेऽपि पाके इत्यर्थः, निर्लवण—लवणरसशून्य, लवणविरहितमित्यर्थः, भोज्य—भोजनीयं, व्यञ्जनादिकामिति यावत्, यथा—यद्वत्, अनास्वादम्—अनास्वादनीय, त्रिगतास्वादतया भोजनानर्ह-मिति यावत्, भवति इति शेषः, नीरस—रसवर्जित, काव्य—कवित्व, तथैव—तद्वदेव, अनास्वादम् (आस्वादाविषयम्) इति पूर्वणान्वयः, भवतीति शेष, तादृशं काव्य सामाजिकमनास प्रीणयितुं न शक्नोतीति भावः, इति—इति हेतोः, इह—आस्मिन् परिच्छेदे, रसान्—शृङ्गारादीन्, ब्रूमः—निरूपयामः, वयम् इति शेषः । ब्रूम इति बहुवचनम् आत्मनो सामर्थ्यबाहुल्य-प्रकटनाय इति बोध्यम् । यथा स्वादसौरभ्याद्यापादकैर्नानावधै-द्रव्यैः सुपक्वमापि भोज्यद्रव्यम् अलवणं चेत् न रसनाप्रोत्-कारं भवति, तथा गुणालङ्कारादिभिः काव्योत्कर्षापादकैर्बहुभिः पदार्थैः समन्वितमापि सत्कावर्भाषत रसवर्जितं चेत् न चित्त-चमत्कारापादकं भवतीति भावः ॥ १ ॥

रसस्वरूपं लक्षयति, विभावेरिति ।—विभावैः,—आल-

स्वनोद्दीपनाख्यरत्याद्युद्धोधकैः, अनुभावैः,—हावभावादिभिः,  
 सात्त्विकैः,—स्तम्भस्वेदादिभिः रजस्तमोनिर्मुक्तमनःसम्भूत-  
 विकारविशेषात्मकैः, तथा व्यभिचारिभिः,—निर्वेदादिभिः  
 मञ्चारिभिश्च, भावैः इति शेषः, उत्कर्षं—प्राकट्यं, स्फुटता-  
 मित्यर्थः, आरोप्यमाणः,—नीयमानः, तिष्ठति इति स्थायी—  
 स्थास्रः, भावान्तरैरतिरस्कृतः इत्यर्थः, अविच्छेदेन आद्योपान्त-  
 स्थितः इति यावत्, भावः,—‘रत्यादि’ इत्यर्थः, रसः,—शृङ्गारादि-  
 रूप इत्यर्थः, स्मृतः,—कथितः। विभावाः,—वि—विशेषेण, भाव-  
 यन्ति—उद्धोषयन्ति स्वं स्वं रत्यादिस्थायिभावमिति, चन्द्रचन्द्र-  
 नादय इत्यर्थः, ते हि रामसीतादीना मनसि अन्योन्यविषयक-  
 मनुराग जनयन्ति, यद्वा—विभावयन्ति—अन्योन्यम् अनुभाव-  
 यन्ति स्वरत्यादिकमिति विभावाः रामसीतादयः, यथा राम-  
 सीताविषयकम् अनुरागं सीता, सीता च रामविषयकम् अनु-  
 रागं राममनुभावयति इति, उद्दीपकाश्च आलम्बनचेष्टाकटा-  
 द्यादयः चन्द्रचन्द्रनमलयजादयश्च, ते हि रामसीतादीनां मनसि  
 अन्योन्यविषयकमनुरागम् उद्दीपयन्ति। उक्तञ्च दर्पणे,—“रत्या-  
 द्युद्धोधको लोके विभावः काव्यनाट्ययोः। आलम्बनोद्दीपनाख्यौ  
 तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्ग-  
 मात्। उद्दीपनावेभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्ब-  
 नस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ॥” इति। अनुभावाः,—  
 अनुभावयन्ते—अनुभवविषयाक्रियन्ते, रत्यादिस्थायिभावा एभिः  
 इति अनुभावाः, हावभावादयः, उक्तञ्च दर्पणे,—“उद्बुद्ध  
 कारणैः स्वैः स्वैः वहिर्भाव प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः  
 साऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥” इति। सात्त्विका,—सत्त्व—रज-  
 स्तमोभ्याम् असस्पृष्टमनोवृत्तिविशेषः, तत्सम्भूताः विकृतिविशेषाः  
 सात्त्विकाः; उक्तञ्च दर्पणे,—“रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्व-

मिहोच्यते । विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्त्तिताः ॥  
 स्तम्भ. खेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः । वैवर्ण्यमशु  
 प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥” इति । तेषामपि विशेष-  
 लक्षणानि तत्रैवोक्तानि ; यथा,—“स्तम्भचेष्टाप्रतीघातो भयहर्षा-  
 मयादिभिः । वपुर्जलोद्गम खेदो रतिघर्षमश्रमादिभिः ॥ हर्षा-  
 द्रुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया । मदममदरपीडाद्यैर्वैवर्ण्यं  
 गद्गदं त्रिदुः ॥ रागहेपश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रम्य वेपथुः । विषाद-  
 मदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्व विवर्णता ॥ अशुनेत्रोद्भव वारि क्रोधदुःख-  
 प्रहर्षजम् । प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ॥” इति ।  
 व्यभिचरन्ति—विशेषेण आभिमुख्येन च चरन्ति—अन्तरान्तरा  
 आविर्भवन्ति ये तयोक्ता, यद्वा—विशेषेण अभितः ( सर्वाङ्ग-  
 व्यापितया ) चारयन्ति—रत्यादिस्थायिभावान् काये सञ्चार-  
 यन्ति, सुहृर्मुहुरभिव्यञ्जयन्ति वा ये, ते व्यभिचारिणः, उक्तञ्च  
 दर्पणे,—“विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः । स्थायि-  
 न्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिशच्च तद्भिदाः ॥” अन्यत्राप्युक्तम्,—  
 “ये तूपकर्तुमायान्ति स्थायिन रसमुत्तमम् । उपकृत्य च गच्छन्ति  
 ते मता व्यभिचारिणः ॥” इति । ते च निर्वेदादयः, यथा  
 दर्पणे,—“निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्रमोहो विबाधः  
 स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसताऽमर्षनिद्राऽवह्नित्या । औत्सुक्यो-  
 न्मादशङ्का स्मृतिमतिमहिता व्याधिसन्त्वासलज्जा हर्षास्रया-  
 विषादाः सधृतिचपलताग्लानिचिन्तावितर्काः ॥” इति । स्थायि-  
 भावा रत्यादयोऽपि रसान्तरेषु व्यभिचारिणः स्युरिति बोध्यम् ।  
 स्थायो भावश्च रत्यादिः, तदुक्तं दर्पणे,—“रतिर्हासश्च शोकश्च  
 क्राधोत्साहौ भयं तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः  
 शमोऽपि च ॥” इति । तदेव काव्यमाद्यनिवेशितैः अलौकिकैः  
 विभावैः कारणभूतैः, अनुभावैः सात्त्विकैश्च कार्यविशेषभूतैः,

रसनामान्याह,—

शृङ्गारवीरकरुणा हास्याद्भुतभयानकाः ।

रौद्रबीभत्सशान्ताश्च नवैते कथिता बुधैः ॥ ३ ॥

व्यभिचारिभिः सहकारिभिश्च पुष्टि न्नीयमानः रत्यादिः स्थायी भावः रसः कथ्यते इति निष्कर्षः ॥ २ ॥

रसाना नामान्याह, शृङ्गारिति ।—बुधैः,—पण्डितैः, शृङ्गारः, वीरः, करुणः, हास्यः, अद्भुतः, भयानकः, रौद्रः, बीभत्सः, शान्तश्च, इति एते—उक्तरूपाः, नव—नवप्रकाराः, रसाः इति शेषः, कथिताः,—स्मृताः । तत्र शृङ्गारस्य सर्व्वेषाम् अतीव मनोज्ञत्वात् प्रथमम् उपादानं, वीरस्य च उत्तमप्रकृतिकत्वात् ततः, ततश्च क्रमेण अन्येषाम् । शान्तस्य तु सर्व्वोत्तमस्यापि अधिकारिणां ज्ञातपरमार्थानां विरलत्वात् सर्व्वशेषे समुपादानमिति बोध्यम् ।

एतेषाञ्च रसानां स्थायिभावा उक्ता यथा,—“रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोक्ताहौ भय तथा । जुगुप्सा विस्मयश्चमा स्थायिभावा प्रकीर्त्तिताः ॥” अस्यार्थः,—समनन्तरमुक्तानां रसानां यथायोग्यमेव एकैकः स्थायिभावः बोध्यः, तथा च,—रतिः,—अनुरागः, शृङ्गारस्य स्थायिभावः, हासः,—हास्यं, हास्यरसस्य स्थायिभावः, शोकः,—इष्टवियोगादिजन्य दुःखं, करुणरसस्य स्थायिभावः, क्रोधः,—रोषः, रौद्ररसस्य स्थायिभावः, उक्ताह,—उद्यमः, वीररसस्य स्थायिभावः, भय,—भीतिः, भयानकरसस्य स्थायिभावः, जुगुप्सा—निन्देत्यर्थः, बीभत्सरसस्य स्थायिभावः, विस्मयः,—आश्चर्य्यम्, अद्भुतरसस्य स्थायिभावः, शर्मः,—शान्तिः, शान्तरसस्य स्थायिभावः, एते रत्यादयः स्थायिभावाः,—अविच्छिन्नप्रवाहरूपेणानुवर्त्तमाना-

शृङ्गारलक्षण तदेदमाह,—

जायापत्योर्मिथो रत्यावृत्तिः शृङ्गार उच्यते ।

संयोगो विप्रलम्भश्चेत्येष तु द्विविधो मतः ॥ ४ ॥

शृङ्गारस्य भेदान्तरमाह,—

तौ तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ।

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च पुनरेष द्विधा मतः ॥ ५ ॥

भावा इत्यर्थे, प्रकीर्त्तिता,—कथिता, सर्व्वैरालङ्कारिकैरिति शेषः ॥ ३ ॥

तत्र आदौ सविभाग शृङ्गारलक्षणमाह, जायेति ।—जाया-  
पत्योः,—स्त्रीपुंसयोः, पतिपत्न्योरित्यर्थ, मिथः,—अन्योऽन्य,  
रतेः,—अनुरागस्य, आवृत्तिः,—पुनः पुनः अनुभवः, बाहुल्येनानु-  
शीलनमित्यर्थः, [ “रत्यावृत्तिः” इत्यत्र “रत्या वृत्तिः” इति पाठे  
तु—रत्याम्—अनुरागे, वृत्तिः, वर्त्तनम् इत्यर्थः ] शृङ्गारः,—  
तदाख्यरसः, उच्यते—कथ्यते । पूर्व्वोद्धेनैव शृङ्गार लक्षयित्वा उत्त-  
राद्धेन तस्य भेदद्वयमाह, संयोग इति ।—एषः तु—अयं शृङ्गारः  
पुनरित्यर्थ, सयुज्येते—परस्पर मिल्येते जायापती अस्मिन् इति  
सयोगः,—सम्मेलनमित्यर्थ, (सम्भाग इति क्वचित्) विप्रलभ्येते  
—वञ्चेते प्रणयेन अस्मिन् इति विप्रलम्भः,—विरह इत्यर्थ, च  
इति द्विविधः,—द्विप्रकारः, मतः,—उक्तः ॥ ४ ॥

सयोगविप्रलम्भयोर्लक्षणप्रदर्शनपुरःसरं शृङ्गारस्य पुनः भेदा-  
न्तरमाह, ताविति ।—बुधैः,—विद्वद्भिः, तौ—सयोगविप्रलम्भौ,  
युक्तवियुक्तयोः,—मिलितविरहितयोः, तयोः,—दम्पत्योः,  
वाच्यो—वक्तव्यो, भवतः,—स्त, तत्र मिलितयो जायापत्योः  
सयोग, विरहितयोश्च विप्रलम्भः इत्यर्थः । एषः,—उक्तरूप  
सयोगविप्रलम्भभेदेन द्विविधः शृङ्गारः, पुनः प्रच्छन्नः,—गूढः,



प्रकाशः—प्रकटश्च, इति द्विधा—द्विप्रकारः, मतः,—कथितः ।  
 ति एवं चतुर्विधः शृङ्गारः; तथा हि,—प्रच्छन्नसंयोगः, प्रकाश-  
 संयोगः, प्रच्छन्नविप्रलम्भः, प्रकाशविप्रलम्भश्चेति; क्रमशः तदुदा-  
 हरणानि यथा,—

तद्वक्त्राभिमुखं मुखं विनमितं दृष्टिं कृता पादयो-  
 स्तस्यालापकुतूहलाकुलतरे श्रोत्रे निरुद्धे मया ।

पाणिभ्याञ्च तिरस्कृतः सपुलकः खेदोद्गमो गण्डयोः

सख्यः । किं करवाणि यान्ति शतधा यत्कञ्चुके सन्धयः ? ॥ १॥

तत्रादौ प्रच्छन्नसंयोगस्योदाहरणं यथा, तदिति ।—हे  
 सख्यः !—भो सहचर्य्यः । मुखं—वदनं, ममेति भावः, तस्य—  
 कान्तस्य इत्यर्थः, वक्त्रं—वदनं, तस्य अभिमुखं—सम्मुखम्  
 आभिमुख्येन स्थातुम् उत्सुकमपि इति भावः, विनमितं—नञ्जी  
 कृतम्, अधः कृतमित्यर्थः, दृष्टिं,—नयनं, चक्षुःसंयोग इत्यर्थः,  
 पादयोः,—चरणयोः, कृता—निक्षिप्ता इत्यर्थः; तस्य आलापे  
 —सम्भाषे, सम्भाषणश्रवणे इत्यर्थः, यत् कुतूहलं—कौतुकं,  
 श्रवणौत्सुक्यमिति यावत्, तेन आकुलतरे—अतिव्याकुले,  
 अत्यामक्ते इति यावत्, श्रोत्रे—कर्णौ, मदीयाविति भावः,  
 निरुद्धे—अङ्गुलिभ्याम् अवरोधं नीते, तथा गण्डयोः,—कपो-  
 लयो, आत्मन एवेति भावः, सपुलकः,—सरोमाञ्च, खेदोद्गमः,  
 —धर्ममल्लोद्रेकः, कान्तससर्गात् सात्त्विकभावोद्रेकजन्य  
 इति भावः, पाणिभ्या—स्वोयाभ्या हस्ताभ्या, तिरस्कृतश्च,—  
 आच्छादितश्च, सङ्गोपायितश्चेत्यर्थः, मया इति द्वितीयपादस्थं  
 कर्तृपद सर्वत्र योज्यम्, किन्तु कञ्चुके—गात्रावरणे, स्तनाव-  
 रके कञ्चुलिकाख्यवस्त्रभेदे इति यावत्, सन्धयः,—संज्ञेषा,  
 परस्परग्रन्थिसम्बन्धाः इत्यर्थः, पुनः पुनः संयमिता अपि इति  
 भावः, यत् शतधा—शतकत्वः इत्यर्थः, यान्ति—अपगच्छन्ति,

श्लथतामिति शेषः, विस्खलन्ति इति यावत्, अत्र किं कर-  
वाणि ?—कमुपाय विदधानि ? तस्मिन् प्रबलमानप्रकटनाथं  
युष्माभिरुपदिष्टं सर्वमेवानुष्ठितं, परन्तु रागातिरेकात् यत्  
स्तनादितो वमनस्खलनं जायते, तत्तु कथमपि निरोद्धुं न  
शक्यते, कोऽत्रोपायः ? इति भावः । अत्र कयाचित् मानिन्या  
तरुण्या मखीनाम् उपदेशेन सर्वाणि 'मानोचितानि कार्याणि  
कथमपि कृतानि, परं रसातिरेकात् कञ्चकसन्धिरक्षण कथ-  
मपि कर्तुं न पारितम् । अत्र नायकनायिकयोरुभयोः  
संयोगेऽपि केवल नायिकायाः खेदपुलकादिरूपस्य सार्त्त्वक-  
भावस्यैव वर्णितत्वात्, सञ्चार्यद्दीपनादौना रसव्यञ्जकानां  
'भावानामस्फुटत्वेन प्रच्छन्नतया प्रच्छन्नसंयोगशृङ्गारमङ्गतिः ।  
[ यथा वा,—“दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाह्व नतावमयाः  
सङ्घित निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव । मध्य पाणि-  
मितो निताम्ब जघन पादावुदग्राङ्गुली छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव  
मनस सृष्ट तथाऽस्या वपुः ॥” अत्र मालाविकाऽभिलाषिणा  
अग्निमित्तेण आलम्बनविभावस्य मालाविकाया एव वर्णन  
कृतम्, औत्सुक्यप्रभृतयः व्यभिचारिभावाः, नेत्रविकाशादयः  
अनुभावाश्चात्र औचित्येनाक्षिप्यन्ते इति रसव्यञ्जकाना तेषा-  
मस्फुटतया संयोगशृङ्गारस्य प्रच्छन्नसङ्गतिः । ] शार्दूल-  
विक्रीडित वृत्तम् ॥ १ ॥

दीर्घा वन्दनमालिका विरचिता नेत्रैर्विनेन्दीवरैः

पुष्पाणा प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः ।

दत्त खेदमुचा पयोधरभरणार्थी न कुम्भाभसा

स्त्रैरेवावयवैः प्रियस्य विशतस्तन्वरा कृतं मङ्गलम् ॥ २ ॥

अथ प्रकाशसंयोगस्योदाहरणं यथा, दीर्घेति ।—तन्व्या—

कृशाङ्गा रमण्या इत्यर्थः, स्त्रैः एव—निजैः एव, अवयवैः,

—नयनवदनपयोधरादिभिरङ्गैरित्यर्थः, विशतः, -प्रविशनः, आगच्छत इत्यर्थः, प्रवासात् गृहमिति शेषः, प्रियस्य—कान्तस्य, मङ्गलं—माङ्गलिकानुष्ठानम् इत्यर्थः, कृतं—विहितम् । केन किं कृतम् ? इत्याह, दीर्घेति ।—इन्दीवरैः,—नीलोत्पलैः, विना—ऋते, इन्दीवरमन्तरेणापीत्यर्थः, नैत्रैः,—लोचनैः, दीर्घा—आयता, वन्दनमालिका—वन्दनाय—प्रणामार्थं, पूजोपायनार्थमिति यावत्, मालिका—सक्, विराचता—कल्पिता, तथा, रश्मतेन—ईषत्सितेन, पुष्पाणा—कुसुमाना, प्रकरः—स्तवकः, रचितः,—कल्पित, किन्तु कुन्दजात्यादिभिः,—तत्तदाख्यपुष्प-विशेषैः, नो—न, ( “अभावे नह्य नो नाऽपि” इत्यमरः ) रचित इति पूर्व्वेण अन्वयः ; खेदमुचा—खेदमल्लजलाविणा, कान्ताननदर्शनजनितसात्त्विकभावाविर्भावेण इति भावः, पयो-धरभरण—स्तनोच्छ्रायेण, अर्घ्यं,—अर्घ्यार्थं दीयमानं जलं, दत्त,—अर्पित, कुम्भाम्भसा—कलसवारिणा, न, दत्त इति पूर्व्वेण अन्वयः, एषा हि लौकिकरीतिः यत् प्रवासप्रत्यागतं प्रियजनं तत्स्वजनाः पुष्पमाल्य-पुष्पस्तवकाध्यादिकं दत्त्वा संवर्द्धयन्ति । अत्र तु तरुणो प्रवासादागतं प्रियं संवर्द्धयितुं लौकिकपुष्पादिकं किञ्चिदनुपादयैव स्वन्दीवरनयनस्य दीर्घ-कटाक्षश्रेण्या उपहारशालिकाम्, आन्तरानन्दोत्पन्नस्मितेन पुष्प-स्तवकं, सत्त्वाद्रेकजनितखेदजललाविणा पीनोन्नतस्तनकुम्भेन अर्घ्यं सम्पाद्य तं सवद्धितवतीति निष्कर्षः । अत्र नायकरूपे-णालम्बनावभावेन, विशालनयनविच्छेपरूपेणानुभावेन, खेद-रूपेण सात्त्विकभावेन, हास्येन च व्याभचारभावेण, स्थायि-भावः रतिः परिपोषं नीतिति शृङ्गाररसतामुपैति ; स च शृङ्गारः नायिकायाः प्रवासागतकान्तेन संयोगात् संयोगरूपः, रसव्यञ्जकानामनुभावादीनां सर्वेषामेव स्फुटतया च प्रकाश-

मयोगमृद्गारमङ्गतिः । [ यथा वा,—“शून्यं वासगृहं विलोक्य  
 शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं  
 निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् । विस्रब्ध परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य  
 गण्डखली लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिर  
 चुम्बिता ॥” अत्र नायकरूपेणालम्बनविभावेन, शून्यगृहादि-  
 रूपे गोद्वीपनविभावेन, मुखनिर्वर्णनचुम्बनादिरूपेणानुभावेन,  
 लज्जाहासादिरूपैर्व्यभिचारिभिर्भावैश्च स्थायिभावस्य रतः परि-  
 पोषात् दम्पत्या मिथ सयोगाच्च मयोगमृद्गारमङ्गति , स च  
 रमस्यञ्चकाना विभावाद्येनामत्यन्त स्फुटतया प्रकाशसंयोगः ] ।  
 शार्ङ्गलविक्रीडित वृत्तम् ॥ २ ॥

कावेरीतीरभूमोरुहभुजगवधूभुक्तमुक्तावशिष्ट.

कर्णाटीचोनपीनस्तनवसनदशान्दोलनस्यन्दमन्दः ।

लोलल्लाटीललाटालकललितलतालाम्यलीलाविलोल.

कष्ट भो । टाक्षिणात्य प्रसरति पवन पान्यकान्ताकृतान्त ॥३॥

अथ प्रच्छन्नविप्रलम्भमृद्गारस्यादाहरण यथा, कावेरीति ।  
 —कावेर्या, —तदाख्याया नद्या, तीर—तटे, ये भूमोरुहा,  
 • —वृक्षा, [ भूम्या रोहन्ति ये ते भूमोरुहा, इति भूम्युपपदात्  
 रोहतेः क ] तेषु स्थिताः या भुजगवध्वः,—भुजङ्ग, ताभिः  
 आदौ भुक्त, —अशित, पश्चात् मुक्त, —त्यक्त, अत एव अव-  
 शिष्ट, —भुक्तातिरिक्त. इत्यर्थः, तथा, कर्णाटीना—कर्णाट-  
 देश्याङ्गनाना, चीनानि—चीनदेशीयानि, तद्देशजाततया अति-  
 सूक्ष्माणि इति भावः, ( “चीनोदेशाशुक्रव्रीहभेदे तन्तौ मृगा-  
 न्तर” इति मेदिनी ) पीनस्तनयो,—स्थूलपयोधरयोः, वस-  
 नानि—स्तनावरणवस्त्राणि, तेषा दशाः,—अञ्जलान, तासाम्  
 आन्दोलन—मञ्चालने, यः स्यन्दः,—सञ्चार, प्रवहणमित्यर्थ,  
 तेन मन्दः,—मृदु, तथा, लोलन्तः,—इतस्ततः स्फुरन्तः,

लक्ष्मीनां—लाटदेशीयाङ्गनाना, ललाटेषु—भालस्थलेषु, ये  
अलकाः,—चूर्णकुन्तलाः, ते एव ललितलताः,—मनोहारिण्यः  
व्रतत्यः, तासां लास्यलीलया—नर्त्तनक्रीडया, विलोल',—  
चञ्चल', दाक्षिणात्यः,—दक्षिणदेशात् आगतः, मलयजः इति  
यावत्, पवन',—वायु', पाण्याना—पथिकाना, प्रोषितानाम्  
इत्यर्थः, याः कान्ता',—रमण्य, प्रोषितभर्तृकाः इत्यर्थः, तासा  
कृतान्तः,—यमः, अत्युद्दीपकत्वात् प्राणापायहेतुः इति यावत्,  
प्रसरति—वहति, भोः । इति आत्मानन्दणे, कष्टम् इति खेद-  
सूचकमव्ययम् । अत्र केवलं विरहिण्या उद्दीपनविभावरूपस्य  
तादृशपवनस्य तथा प्रोषितनायकरूपालम्बनविभावस्य वर्णनात्,  
तथा रतिपोषकानुभावादीनाम् आक्षेपतो ज्ञानम् इति तेषा-  
मव्यक्तत्वात् प्रच्छन्नविप्रलम्भसङ्गति । [ यथा वा,—“कान्त  
कान्तं कृपापूर्णे सन्देश नय मे सखि । । अनुकम्पापरीतोऽपि  
गहं नायाति सत्वरम् ॥” अत्र नायकरूपस्य आलम्बनविभाव-  
मात्रस्य वर्णेन, रतिपोषकाणामनुभावादीनान्तु आक्षेपतो बोधः  
इति तेषामस्फुटतया प्रच्छन्नविप्रलम्भसङ्गति ] । स्रग्धरा  
वृत्तम् ॥ ३ ॥

कथमपि सखि । क्रीडाकोपाद् व्रजेति मयोदिते

कठिनहृदयस्यक्त्वा शय्या बन्दाङ्गत एव सः ।

इति सरभस ध्वस्तप्रेक्षिण व्यपेतघृणे सृष्ट्वां

पुनरपि हतव्रीड चेतः करोति, करोमि किम् ? ॥ ४ ॥

अथ प्रकाशविप्रलम्भशृङ्गारस्योदाहरणं यथा, कथमिति ।—  
सखीं प्रति कस्याश्चिद् विरहिण्या उक्तारियम् । हे सखि ।—हे  
वयस्ये । मया कथम् अपि—कुतश्चित् अपीत्यर्थः, क्रीडाकोपात्  
—परिहासरोषात्, प्रणयकलहात् इत्यर्थः, व्रज—त्वमितो-  
गच्छ, इति—इत्यम्, उदिते—कथिते सतीत्यर्थः, कठिनं—

निर्दयं, हृदयं—चेतः, यस्य तथाभूतः, निष्कृष्टः इति यावत्, सः,—मत्कान्त इत्यर्थः, बलात्—बलमाश्रित्य, [ इति ल्यब्लोपे पञ्चर्मा ] मया हस्ते धृतोऽपि बलपूर्वक हस्तमाच्छ्रित्य इति यावत्, शय्या—शयन, त्यक्त्वा—उज्झित्वा, गतः,—प्रस्थितः एव, [ अत्र स्वायोगव्यवच्छेदार्थक एवकारः, तेन, मया बहुशः कृतानुनयोऽपि गमनात् कथमपि न प्रतिनिवृत्त इत्यर्थो लभ्यते ] इति—एव, सरभस—सङ्गे, सहसेत्यर्थः, ध्वस्तः,—निरस्तः, खण्डित इति यावत्, प्रेमा—प्रणयातिशयः येन तथाभूतः, अत एव व्यपेतष्टो—व्यपेता—विशेषेण अपगता, घृणा—दया यस्य तस्मिन्, ( “घृणा दयाऽनुकम्पा स्यात्” इत्यमर ) निर्दये इत्यर्थः, तस्मिन् इति शेषः, हतव्रीड—हता—नष्टा, व्रीडा—लज्जा यस्य त, नष्टरूपमित्यर्थः, निर्लज्जम् इति यावत्, चेतः,—चित्तं, मदीयम् इति भावः, पुनः अपि—भूयोऽपि, ईदृशप्रत्याख्यानात् परमपीति यावत्, सृहाम्—अभिलाषं, तत्राप्यर्थमिति भावः, करोति—जनयतीत्यर्थः, अत्र किं करोमि ?-कमुपायं विदधामीत्यर्थः । अत्र नायकरूपेण आलम्बनविभावेन, क्रीडाङ्कोपरूपेण उद्दीपनविभावेन, चित्त-सृहारूपेण अनुभावेन, निर्दय-निर्लज्जत्वादिरूपेण च व्यभिचारिभावेण स्थायिभाव रतिः परिपोषं, नीतेति शृङ्गार एवात्र रसः, स च नायकनायिकयोः भिन्नस्थानस्थत्वेन विप्रलम्भरूपः, तस्यापि विभावादिरसव्यञ्जकभावानां स्फटतया प्रकाशनात् अत्र प्रकाशविप्रलम्भसङ्गतिर्बाध्या । [ यथा वा,—“त्वामालिख्य प्रणयकुपिता धातुरागैः शिलायामात्मानं ते चरणपतित यावद्विच्छामि कर्तुम् । अस्मैस्तावत् मुहुरपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते मङ्गलं नो कृतवन्तः ॥” अत्र नायिकारूपेण आलम्बनविभावेन, तत्रणयकोपरूपेणोद्दीपनविभावेन

चरणपार्तिच्छारूपेण अनुभावेन, कर्तान्तासूयारूपेण व्यभिचारिभावेण च, स्थायिभावः रतिः परिपोष नीतेति शृङ्गारः रसः ; स च यच्च-तत्पत्न्योः भिन्नदेशस्थत्वेन विप्रलम्भरूपः , एवञ्चात्र रसव्यञ्जकानां विभावादीनां स्फुटतया प्रकाशविप्रलम्भशृङ्गाररससङ्गतिः ] । हरिणी वृत्तम्,—“न समरसला गः षड्वेदैर्हयैर्हरिणी मता” इति च तल्लक्षणम् ॥ ४ ॥

यथा वा,—

श्रीखण्डकर्पूरमृणालमालाशीतोपचारैः सखि ! किं ममैतैः ।  
दाहो न देहात् परिवर्तते मे तं स्वैरिणं वैरिणमन्तरेण ॥ ५ ॥

प्रकाशविप्रलम्भस्य उदाहरणान्तरमाह, श्रीखण्डेति ।—हे सखि । सहचरि । मम—मे, एतैः,—एभिः, अत्रानीतैरित्यर्थः ; श्रीखण्डः,—चन्दन, कर्पूर—खनामख्यातः सुगन्धिद्रव्यविशेष इत्यर्थः, मृणालमाला—विससृक्, ते एव शीतोपचारा,—शैत्यप्रक्रिया, तै, किम् ?—किं फलम् ? न किमपि इत्यर्थः ; शीतोपचारत्वेन अतिप्रसिद्धानां सर्वेषामिवैषा प्रबलविरहानलसन्तापिते गात्रे प्रयुक्तानामपि तापोपशमनासामर्थ्यात् व्यथेत्वमेवेति भावः, कुत इत्याह, तमिति । त—मत्पीडकत्वेन प्रसिद्ध, स्वैरिणं—स्वैच्छाचारिण, मम सुखदुःखयोरविचारकमिति यावत्, अत एव वैरिण—शत्रुभूत, कान्तम् इति शेषः, अन्तरेण—विना, तद्विरहादित्यर्थः, दाहः,—कामानलसन्तापः, देहात्—शरीरात्, ममेति शेषः, न परिवर्तते—न अपगच्छति इत्यर्थः, अन्तर्ज्वलद्विरहानलसन्तापनाशार्थं वह्निःशीतोपचार न किमपि फलमुत्पादयितुमर्हतीति भावः । अत्र कान्तरूपेण आलम्बनविभावेन, श्रीखण्डादिरूपेण उद्दीपनविभावेन, दाहरूपेण च सञ्चारिभावेण, स्थायिभावः रतिः परिपोष नीता इति शृङ्गारः रसः, स च पतिपत्न्योः

नायकलक्षणमाह,—

रूपसौभाग्यसम्पन्नः कुलीनः कुशलो युवा ।

अनुद्धतः सूनृतगीः ख्यातो नेताऽत्र सद्गुणः ॥ ६ ॥

भिन्नदेशस्थत्वेन विप्रलम्भाख्यः, तथाचात्र रसव्यञ्जकाना आलम्बनविभावादीना स्फुटतया प्रकाशविप्रलम्भशृङ्गारसङ्गतिः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ५ ॥

अथेदानीं शृङ्गाररसानुकूल नायकं लक्षयति, रूपेति ।—  
रूप—सौन्दर्यं, सौभाग्य—वाङ्मय, ताभ्यां सम्पन्नः,—युक्तः,  
कुलीनः,—सत्कुलप्रसूतः, कुशलः,—कार्यससाधननिपुणः,  
कामक्रीडादिकोविदः इत्यर्थः, युवा—तरुणः, अशेषयौवन-  
लक्षणाक्रान्त इति यावत्, अनुद्धतः,—श्रीद्धत्यरहितः, विनोत  
इत्यर्थः, सूनृतगीः,—सूनृता—सत्यप्रिया, गीः,—वाणी यस्य  
तथाभूतः, सत्यमधुरवागित्यर्थः, ( “सूनृत मङ्गलेऽपि स्यात्  
प्रियसत्यवचस्यपि” इति मेदिनी ) सद्गुणः,—सन्तः,—उत्तमा,  
गुणा,—शोभादयः इत्यर्थः यस्य तथाभूतः, अत्र—शृङ्गाररसे,  
नेता—नायकः, ख्यातः,—कीर्तितः, आलङ्कारिकैरिति शेषः ।  
नायकलक्षणघटकाः सद्गुणाश्चोक्ता दर्पणे,—“शोभा विलासो  
माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी । ललितौदर्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः  
पौरुषा गुणा ॥” इति । तेषामपि विशेषलक्षणानि तत्रैव,  
यथा,—“शूरता दक्षता सत्य महोत्साहोऽनुरागिता । नीचे  
दृणाऽधिके स्पृहा यतः शोभेति ता विदुः ॥ धीरा दृष्टिर्गति-  
श्चित्रा विलासे सस्मित वचः । सद्गोसेष्वप्यनुद्देशो माधुर्यं  
परिकीर्तितम् ॥ भाशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्व्विकारता ।  
व्यवसायादचलन धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥” अधिक्षेपापमानादेः  
प्रयुक्तस्य प्ररेण यत् । प्राणालयेऽप्यसहन तत्तेजः समुदाह-



नायकभेदमाह,—

अथञ्च विबुधैरुक्तोऽनुकूलो दक्षिणः शठः ।

धृष्टश्चेति चतुर्धा स्यान्नायकाः स्युश्चतुर्विधाः ॥७॥

तम् ॥ वाग्वेशयोर्मधुरता तद्वत् शृङ्गारर्चाष्टत ललितम् ।  
दान सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥” इति ।  
अथञ्च प्रथमतः धीरोदात्त-धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्त-  
भेदै चतुर्विध उक्तः, तद्वयथा दर्पणे,—“धीरोदात्तो धीरो-  
द्धतस्तथा धीरललितश्च । धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतु-  
र्भेदः ॥” इति । तेषामपि विशेषलक्षणानि तत्रैव, यथा,—  
“अविकल्पन क्षमावानर्तिगम्भीरो महासत्त्वः । स्थेयान् निगूढ-  
मानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ मायापरः प्रचण्डश्चपलो-  
ऽहङ्कारभूयिष्ठः । आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥  
निश्चिन्तो नृदुरनिश कलापरो धीरललितः स्यात् । सामान्य-  
गुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥” इति ॥ ६ ॥

धीरादात्तादिचतुर्भेदभिन्नस्यापि नायकस्य पुनः चतुर्विध-  
त्वम् आह, अर्यामिति ।—अथञ्च—उक्तप्रकारः नायकः, अनु-  
कूलः, दक्षिणः, शठः, धृष्टश्च, इति—इत्य, चतुर्धा—चतु-  
ष्प्रकारः, स्यात्—भवेत्, इति विबुधैः,—परिण्डितै, उक्तः,—  
कथितः । तथा च, नायकाः,—धीरादात्तादिभेदेन चतुर्भेदभिन्ना  
नेतारः, चतुर्विधाः,—अनुकूलादिभेदेन पुनः प्रत्येक चतुष्प्र-  
काराः, स्युः,—भवेयुः । दर्पणकारा हि धीरोदात्तादिभेदेन  
नायकस्य चतुर्विध भेदं प्रथममुक्त्वा ततः परम् “एभिर्दाक्षिण-  
धृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा” इत्युक्तवान्, तदनुसारेण  
च अत्रापि धीरोदात्तादीनां चतुर्विधानां प्रत्येकम् अनुकूल-  
दक्षिण-शठ-धृष्टरूपचातुर्विध्येन नायकभेदाः षोडशप्रकाराः

अनुकूलदक्षिणयोर्लक्षणाद्—

नीलीरागोऽनुकूलः स्यादनन्यरमणीरतः ।

दक्षिणश्चान्यचित्तोऽपि यः स्यादविकृतः स्त्रियाम् ॥८॥

दर्पणसङ्ख्या बोद्धव्याः । [ अत्र चतुर्थपादे “नायिका स्याच्चतुर्विधा” इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते, तत्र,—एवञ्च नायकानुसारं नायिका—नेत्रो अपोत्यर्थः, चतुर्विधा—चतुष्पकारा, स्यात् भवेदित्यर्थः ] ॥ ७ ॥

एकेनैव श्लोकेन अनुकूलं दक्षिणञ्च नायकं लक्षयति, नीलीति ।—नीली—“नं चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् । तं नीलीरागमाख्यान्ति यथा श्रीरामसीतयो ॥” इत्युक्तलक्षणा प्राप्तिः एव, रामः,—अनुरागः यस्य तथाभूतः ; यद्वा,—नीली—नील इति नाम्ना प्रसिद्धः रागविशेषः, तद्वत् रागः,—रञ्जन, प्रीतिरिति यावत्, यस्य सः, नीलीरञ्जनवत् यस्य अनुरागः चिरस्थायी भवतीति भावः, तथा अनन्यरमणीरतः,—अन्यस्या—स्वाश्रितभिन्नाया, रमण्या—स्त्रिया, न रतः,—न आसक्तः, खेतरकामिन्यनासक्त इत्यर्थः, एकस्याम् एव कामिन्या प्रणयी इति यावत्, अनुकूलः,—तदाख्य नायकभेद, स्यात्—भवेत्, तथा उक्तञ्च दर्पणे,—“अनुकूल एकनिरत” इति । अनुकूलं लक्षयित्वा दक्षिण लक्षयति, दक्षिण इति ।—यञ्च—यो हि, अन्यस्याम्—अपरस्या, स्वभिन्नाया रमण्यामित्यर्थः, चित्तं—मन, यस्य तथाभूतः अपि, अपरकामिन्यामासक्तं सन्नपि इत्यर्थः, स्त्रिया—रमण्या, स्त्रीमात्रे इत्यर्थः, अपरासु द्वित्रिचतुःसङ्ख्याकास्वपि नायिकासु इति यावत्, अविकृतः,—समानानुराग इत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, स. दक्षिणः,—दक्षिणनामा नायकः, कथ्यते इति शेषः, तथा उक्तञ्च दर्पणे,—“एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः” इति ।

अत्र अनुकूलोदाहरणं यथा दर्पणे,—

अस्माकं सखि । वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं  
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः ।

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो  
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

अस्यार्थो यथा,—कान्तवाङ्मयं प्रकटयन्त्याः कस्याश्चित् सखीं  
प्रत्युक्तिरियम् । हे सखि ।—सहचरि । अस्माकं—नः, [ अत्र  
बहुवचनम् आत्मनः कान्तवाङ्मयाधिक्यव्यञ्जनार्थम् ; यद्वा,—  
“अस्मदो द्वयोश्च” ( १।२।५८ पा० ) इति सूत्रेण अस्मच्छब्दात्  
एकत्वार्थे बहुवचनमिति बोध्यम् ] वाससी—वस्त्रे, परिधेयवसन-  
मुत्तरीयश्चेत्यर्थः, न रुचिरे—न रमणीये, ग्रैवेयकं—ग्रीवाभरणं,  
कण्ठपरिहितो हार इति यावत्, न उज्ज्वल—रत्नविरहिततया  
न भास्वरमित्यर्थः, गतिः,—गमन, नो—न, वक्रा—कुटिला,  
सविलासा इति यावत्, हसित—हास्य, न उद्धतम्—उत्कटम्,  
उच्चैरित्यर्थः, कश्चित्—कोऽपि, मदः,—तारुण्यादिजनितमनो-  
विकारोऽपि, [ तथाच दर्पणकारः,—“मदो विकारः सौभाग्य-  
यौवनाद्यवलेपजः” इति ] नैव अस्ति—नैव विद्यते, किन्तु—  
तथाऽपीत्यर्थः, अन्येऽपि—अपरेऽपि, अनात्मीया अपि इत्यर्थः,  
जनाः,—लोकाः, कि० पुनरात्मीया इति भावः, अस्याः,—  
कामिन्याः, प्रियोः,—कान्तः, सुभगोऽपि—सुन्दरोऽपि, मनोज्ञो-  
ऽपीत्यर्थः, अभिलाषमात्रेणैव, कान्तान्तरवशीकरणक्षमोऽपीति  
यावत्, अन्यतः,—अन्यस्या कस्यामपि कामिन्यामित्यर्थः, दृष्टिं  
—नेत्रं, न निक्षिपति—पातयति, इति—इत्थं, मा लक्ष्मी-  
कृत्येति शेषः, वदन्ति—कथयन्ति, परस्परमानपत्नीति भावः,  
द्वयता—अनेन कथनेनेत्यर्थः, विश्व—जगत्, दुःस्थित—दुःख-  
भाराक्रान्तम्, मन्यामहे—तर्कयामः ; जगति अहमेव केवलं

प्रियवान्नभ्यसुखम् अनुभवामि, न त्वपरा कापि, कथमन्यथा  
मामिव लक्ष्यौकत्य मर्वास्ता एवमानोचयन्तीति निष्कृष्टाभि-  
प्रायः । अत्र नायकस्य अनन्यरमणीरतत्वात् अनुकूलत्वम् ।  
शादूँलविक्रीडित वृत्तम् ।

दक्षिणोद्गहरण यथा तत्रैव,—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता वारोऽङ्गराजस्वसु-  
द्यूतै रात्रिरिय जिता कमलया देवो प्रसाद्याऽद्य च ।  
इत्यन्तपुरसुन्दरीः प्रतिभया विज्ञाय विज्ञापिते  
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

अस्यार्थो यथा,—अन्तःपुरचारिणः कस्याप्याप्तस्योक्तिरियम् ।  
कुन्तलेश्वरसुता—कुन्तलाख्यदेशाधिपतेस्तनया, स्नाता—ऋतु-  
स्नाता सती इत्यर्थः, तिष्ठति—वर्तते, पति प्रतीक्षते इत्यर्थः,  
अत सा अवश्यगम्या इति भावः ; अङ्गराजस्वसु,—अङ्ग-  
देशाधीश्वरस्य भगिन्या, वारः,—तद्गृहे गमनस्य पथ्यायेणागतो  
दिवस इत्यर्थः, सुरतार्थं नियमितदिनमिति यावत्, अतः  
साऽपि अपरिहार्या इति भावः, कमलया—तदाख्यया  
कयाऽपि महिष्या, इयम्—उपस्थिता, वर्तमानेत्यर्थः, रात्रिः,  
—रजनी, द्यूतैः,—अक्षैः, राज्ञा सह द्यूतक्रीडनैरित्यर्थः,  
जिता—पणत्वेन आयत्तीकृतित्यर्थः ; राज्ञा कमलया सह द्यूत-  
क्रीडाकाले एव प्रतिज्ञात, यत् यद्यहं क्रीडाया पराभूतः  
स्या, तदा अद्य त्वयैव साहं सुरतक्रीडया रात्रिं यापयिष्यामि  
इति, ततश्च क्रीडायामसौ पराजितः, तेन चेय रजनी कमलया  
पणरूपेण जिता इति निष्कृष्टार्थः, देवी च—कृताभिषेका  
प्रधाना राज्ञो अपीत्यर्थः, ( “देवी कृताभिषेकायाम्” इत्यमरः )  
अद्य—अस्यामेव रात्रौ. प्रसाद्या—अनुनेया, देवेनेति शेषः.  
स्वयं कृतापराधत्वादिति हृदयम्, अयम्भावः,—“ऋती

शठष्टशीलं चणमाह,—

प्रियं वक्तव्यप्रियं तस्याः कुर्वन् यो विकृतः शठः ।  
धृष्टो ज्ञातापराधोऽपि न विलक्ष्योऽवमानितः ॥६॥

भाष्योमुपेयादेव” इति विधिवाक्यात् प्रथमम् ऋतुस्नातैव ताव-  
दनुपेक्षणीया किमुतकुन्तलेश्वरसुता ; नयनियतः साधारणोऽपि  
समयः दुर्लङ्घ्यः, किमुताङ्गनाथस्वसृसमीहितन्यायागतसमा-  
गमसमयः, सामान्येऽपि जये विजितस्य परतन्त्रता किमुत-  
कामिनौकुलललामकमलाप्रयुक्ते, इत्येवमुत्तरोत्तराधिककार्य-  
सम्प्राप्तेऽपि महादेव्याः प्रसादनं तावत् सर्वोपरि तिष्ठतीति न  
किमप्युपेक्षणीयमिति, इति—अस्माद्धेतोः, मया—अन्तःपुर-  
चारिणा कञ्चुकिना इत्यर्थः, अन्तःपुरसुन्दरी प्रति—शुद्धान्तः-  
स्थानामङ्गनाना सम्बन्धे, [ अन्तःपुरसुन्दरीरिति “अभितः-  
परितः-समयानिकषाहाप्रतियोगिऽपि” ( वा० ) इति द्वितीया ]  
विज्ञाय—यस्याः यत् वक्तव्यं, तत् सर्वं विदित्वेत्यर्थः, विज्ञा-  
पिते—निवेदिते सति, देवेन—महाराजेन, अप्रतिपत्तिमूढ-  
मनसा—किंकर्तव्यविमूढचित्तेन सतेत्यर्थः, द्विवा,—द्वे वा  
तिस्रो वा इति तथोक्ताः, [ द्वे वा तिस्रो वा इति  
वाक्ये “सर्वनामसङ्ख्योरुपसङ्ख्यानम्” इति वार्त्तिकेन समासे  
कृते “सङ्ख्यायाः अल्पीयस्या.” इति वार्त्तिकसूत्रेण द्विशब्दस्य  
पूर्वनिपाते द्विवाः इति पठं सिद्धम् ] नाडिकाः,—घटिकाः,  
दण्डानिति यावत्, व्याप्य इति शेषः, स्थितं, तूष्णीमिति शेषः ।  
अत्र सकलनायिकामनस्तुष्टिविधानार्थं चिन्ताऽऽकुलत्वदर्शनेन,  
सर्वास्वेव नायिकासु समदर्शित्वावगमात् दक्षिणत्वं नायक-  
स्येति बोध्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८ ॥

अथ शठं धृष्टञ्च नायकमेकेनैव श्लोकेन लक्षयति, प्रियमिति ।

—यः,—नायकः, तस्याः,—कान्तायाः इत्यर्थः, अप्रियम्—  
अहृद्यम्, अनभिप्रेतमित्यर्थः, कुर्वन्—आचरन्, अपीति शेषः,  
प्रिय—मनोऽनुकूलमित्यर्थः; वक्ति—भाषते, विवृतः,—विरुद्ध-  
क्रियः, विरुद्धव्यापारवान् इत्यर्थः, विपकुम्भपयोमुग्धसदृश इति  
यावत्, सः शठः,—शठनायकः, कथ्यते इति शेषः । शठ लक्ष-  
यित्वा इदानीं घृष्ट लक्षयति, घृष्ट इति ।—यश्च ज्ञातापराधः,  
—ज्ञातः,—विदितः, कान्तयेति भावः, अपराधः,—दोषः,  
कान्तान्तरमसर्गादिरूपानुचितव्यापार इति यावत्, यस्य तथा-  
भूत, अत एव अवमानितः,—निर्भर्त्सितः, अनादृतः मन्त्रपी-  
त्यथ, न विलक्ष, —न लज्जित, भवतीति शेषः, सः घृष्टः,—  
घृष्टनामा नायकः, कथ्यते इति शेषः ।

शठोदाहरणं यथा दर्शयति,—

शठान्यस्या काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा

यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभव ।

तदेतत् काचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-

विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥

अस्यार्था यथा,—दुःखितया कयाचिन्नायिकया नायक-  
मुपालब्धुं प्रेषितायाः कस्याश्चित् दूत्या उक्तिरियम् । हे शठ !  
—प्रतारक । आश्लिष्यन्नेव—आलिङ्गन्नेव, मत्सखीमिति शेषः,  
अन्यस्याः,—अपराया, मत्सखीभिन्नाया नायिकाया इत्यर्थः,  
काञ्चीमणिरणितं—काञ्चरा—रशनायां, ये मणयः,—काञ्ची-  
निखचितानि रत्नानि इत्यर्थः, तेषा रणित—निक्षण, घनजघन-  
सञ्चालनेन परस्परसङ्घर्षणजनितमिति भावः, आकर्ण्य—श्रुत्वा,  
सहसा—भटिति, तत्क्षणमेवेत्यर्थः, आलिङ्गनावसर एवेति  
यावत्, यत् प्रशिथिलभुजग्रन्थिः,—प्रशिथिलः,—अत्यन्त श्लथः,  
सर्वथा सस्त्रस्त इत्यर्थः, भुजयोः,—बाह्वोः, ग्रन्थिः,—बन्धन-

मिति यावत्, यस्य तादृशः, सस्यथवाहुबन्धन इत्यर्थः, अभवः,  
 — आसी, अकस्मादन्यकामिनीकाञ्चीध्वनिमाकर्ण्य तां प्रति  
 चेतसः प्रवृत्ते, त्वं यत् प्रक्रान्ताल्लिङ्गनस्य भङ्गं कृतवानसीति  
 निष्कृष्टार्थ, तदेतत्—तदिदं, तव उक्तरूपमाप्रियाचरण-  
 मित्यर्थः, क्त—कुत्र, कस्याग्रे इत्यर्थः, आचक्षे—कथयामि ?  
 तत्कथनयोग्य स्थान कुत्रापि न लभे इति भावः ; घृतमधुमयं  
 —घृतमधुरूपं, घृतमधुसदृशमिति यावत्, यत् त्वद्बहुवच, —  
 तव बहुजल्पनम्, अनुनयार्थमिति भावः, तदेव विषं—गरलं,  
 घृतमधुनोरापाततः अद्भुतवदास्वादवत्त्वेऽपि यथा पश्चात् विष-  
 वदनिष्टकरत्वं जायते, तद्वत् तव वचनमप्यापाततः 'श्रुतिरम-  
 णीयमपि पश्चात् मन पीडाद्यनिष्ठाचरणेन अयथार्थप्रातभासात्  
 विषतुल्यमित्याशयः, तेन, घृतमधुवदापातमधुरभवदीयवाक्य-  
 विषेणेत्यर्थ, आघूर्णन्ती—परिभ्राम्यन्ती, घूर्णहेहा इति यावत्,  
 मे—मम, सखी—सहचरी, किमपि—किञ्चिदपि, हितमहित  
 वा इति भावः, न गणयति—न अवधारयति । अत्र अन्यस्यां  
 नायिकाया समुत्पन्नानुरागस्य नायकस्य एतस्या विविधाप्रय-  
 भाषणालिङ्गजाटिना वहिर्दर्शितानुरागस्यापि गूढ विप्रयानु-  
 ष्ठानात् शठत्वसङ्गतिर्बोध्या । शिखरिणी वृत्त, —“रसैरुद्रैश्छन्ना  
 यमनसभलागः शिखरिणी” इति लक्षणात् ।

घृष्टोदाहरणमपि यथा तत्रैव,—

शोण वीक्ष्य सुखं विचुम्बितुमह यातः समीप ततः

पादेन प्रहृतं तया सपदि त घृत्वा सहासे मयि ।

किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया वाष्य त्यजन्त्या. सुखे !

ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रव ॥

अस्यार्थो यथा,—प्रवासे सखाय प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् ।

हे सुखे !—वयस्य ! कृतापराधोऽप्यहमित्यादिः, सुखं—वदनं,

नायिकाभेदसाधु—

अनूढा च स्वकीया च परकीया पणाङ्गना ।

त्रिवर्गिणाः स्वकीया स्यादन्याः केवलकामिनः ॥ १० ॥

कान्ताया इति शेष, शोणं—रक्त, मयि कोपादिति भावः, वीक्ष्य—दृष्ट्वा, अपीति शेष, विचुम्बितुं—तदधगामृत पातु-मित्यर्थ, समीप—निकट, तस्यां इति शेष, यात,—गतः, ततः,—मम तत्समीपगमनानन्तरमेवेत्यर्थः, तथा—मत्कान्तया इत्यर्थ, कुपितया इति भावः, पादेन—चरणेन, प्रहृत—ताडित, मयि पादप्रहारः कृतः इत्यर्थः, सपदि—तत्क्षणमेव, पादप्रहारसमकालमेवेति भाव, त—पाद, धृत्वा—गृहीत्वा, मयि—एवमवमानिते सलपीत्यर्थ, सहासे—हसति सतीत्यर्थः, तत्र—तस्मिन् पादाकर्षणविषये इत्यर्थः, किञ्चित्—किमपि, विधातु—कर्तुम्, अक्षमतया—असमर्थतया, वाप्यं—नयन-जल, त्यजन्त्या,—सुञ्चन्त्या, वामभ्रुव,—सुभ्रुवः, सुन्दर्याः मत्प्रियाया इति यावत्, क्रोपोऽपि—क्रोधोऽपि, कि पुनरनु-राग इति भावः, ध्यात,—प्रवाहरूपेण चिन्तितः सन्नित्याशयः, चेतसि—मम मनसीत्यर्थः, कौतुक—कौतूहलम्, श्रीत्सक्य-मित्यर्थ, वितनुते—विस्तारयति, वर्द्धयंतीति यावत् । अत्र कान्तान्तरसंसर्गादिरूपानुचितव्यापारानुष्ठानज्ञानात् कुपितया कान्तया सपादताडनं कृतावमानस्यापि नायकस्य पुनः पाद-ग्रहणपुरःसरहास्योपवर्णनात् निर्लज्जत्वप्रतीतेरस्य घृष्टत्वसङ्गति-र्षोऽध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ६ ॥

नायिकाभेद तत्तद्विशेषलक्षणञ्च निरूप्य इदानीं नायिकाभेद निर्दिशति, अनूढेति ।—अनूढा—अविवाहिता, स्वकीया—स्वीया, ऊढा इत्यर्थः, परकीया—परनारी च, पणाङ्गना—



अनूटालक्षणमाह,—

अनुरक्ताऽतुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत् ।

साऽनूढेति यथा राज्ञो दुष्मन्तस्य शकुन्तला ॥ ११

स्वकीयालक्षणमाह,—

देवतागुरुसाध्येण स्वीकृता स्वीयनायिका ।

क्षमावत्यतिगम्भीरप्रकृतिः सच्चरित्रभृत् ॥ १२ ॥

वेश्या च, इति चतुर्विधा नायिका भवन्तीति शेषः ; तत्र स्वकीया—स्वीया नायिका इत्यर्थः, त्रिवर्गिणः,—धर्मार्थकामपरस्य जनस्येत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ; अन्या,—अपरा, अनूटालक्षणास्त्रिविधा इति भावः, केवलकामिनः,—केवलं कामपरस्य जनस्य स्यात् इत्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र प्रथमतः सदृष्टान्तामनूटा लक्षयति, अनुरक्तेति।—अनुरक्ता—अनुरागिणी, रूपगुणरदिदर्शनेन अत्यन्तमाकृष्टा इत्यर्थः, या—नायिका, अनुरक्तेन—प्रणयवता नायकेनेति यावत्, स्वयम्—आत्मनैव, तद्गुरुजनानुमतिम् अन्तरणैवेत्यर्थः, स्वीकृता—गृहीता, आत्माधीनी कर्तव्यार्थः, भवेत्—स्यात्, सा अनूटा—अविवाहिता नायिका, इति, कथ्यते इति शेषः ; यथेति उदाहरणप्रदर्शनार्थं, दुष्मन्तस्य—दुष्मन्ताभिधानस्य, राज्ञः,—नृपतेः, शकुन्तला—शकुन्तलेति नाम्ना प्रसिद्धा नायिकेत्यर्थः, सा हि अनूटाऽवस्थायां मृगयार्थं वन गतेन दुष्मन्तेन दृष्टा तदीयानुपमरूपयौवनलावण्यादिना सातिशयमाकृष्टेन गुरुजनानुमतिमनपेक्ष्यैव परिगृहीता, इति अस्या अनूटात्वसङ्गतिरिति बाध्यम् ॥ ११ ॥

अत्र क्रमप्राप्ता स्वकीया लक्षयति, देवतेति ।—क्षमावती—क्षमाशीला, भर्तृगुरुजनादिकर्ताप्रियसहनशीला इत्यर्थः, अति-

गम्भीरा—अत्यन्तगाम्भीर्यवती, अचञ्चला इत्यर्थः, पतिरहस्य-  
गोपनशीला इति यावत्. प्रकृतिः,—स्वभाव. यस्या. तथाभूता,  
निरतिशयधीरस्वभावेत्यर्थः. नियतसचञ्चलप्रकृतिकतया या  
किमपि रहस्यमन्यस्मै कस्मैचित् कथमपि न प्रकाशयति, तादृ-  
शीति यावत्. सञ्चरित्रभृत्—सत्—प्रशसनीय, चरित्रं—स्वभाव,  
विभर्त्ति—धारयति या तथाभूता, सुशीला इत्यर्थः, (या) देव-  
ताना—नारायणाग्निप्रभृतोना . देवानामित्यर्थः, गुरुणा—  
पित्रादिगुरुजनानाञ्च, साञ्च्येण—प्रत्यक्षेण, तेषा प्रत्यक्षदर्शित्व-  
दशायाम् इति यावत्. स्वीकृता—वेदमन्त्रपाठपूर्वक गृह्यता,  
भवेत्, परिणेत्रा इति शेषः, [ एतेन अस्या देवतासात्त्विक-  
त्वेन गृहीततया धर्माचरणसहायत्व व्यज्यते ] ( सा ) स्वीय-  
नायिका—स्वकीया, उच्यते इति शेषः, अत्र—यथा रामस्य  
सीतेत्युदाहरणम् ऊहनीयम् । यथा वा दर्पणे,—“लज्जापञ्जत्त-  
पसाहणाइपरभक्तिणिष्पिबामाइं । अबिण्णअदुम्मेधाइ धस्साणं घरे  
कलत्ताइ ॥” (“लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि ।  
अविनयदुर्मेधानि धन्याना गृहे कलत्राणि ॥” इति संस्कृतम् ) ।  
अस्यार्थो यथा,—धन्यानां—पुण्यवता जनाना, गृहे—भवने,  
कलत्राणि—स्त्रियः, लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि—लज्जा एव—  
त्रपा एव, पर्याप्तं—यथेष्टं, प्रभृतमित्यर्थः, प्रसाधनम्—अल-  
ङ्कार येषा तादृशानि, परभर्तृनिष्पिपासानि—परभर्तृषु—  
परपतिषु, परपुरुषेषु इत्यर्थे, निष्पिपासानि—निष्पृहाणि,  
तथा अविनये—अशिष्टव्यवहारे, प्रागल्भ्यादावित्यर्थः, दुर्मेधानि  
—मेधारहितानि, अविनयानभिज्ञानीत्यर्थः, विनोतानीति  
यावत्, भवन्तीति शेषः । अत्र देवतासात्त्विकपरिणीताया  
नायिकायाः लज्जाविनयपातिव्रत्यादिसत्स्वभाववत्त्वात् पर-  
पुरुषविरक्तत्वाच्च स्वकीयात्वसङ्गतिर्विधीया । ॥ १२ ॥

परकीयालक्षणात्—

परकीयाऽप्यनूढेव वाच्यभेदोऽस्ति चानयोः ।

स्वयमप्यतिकामैका सख्यैवैका प्रियं वदेत् ॥ १३ ।

अथ क्रमप्राप्ता परकीयां लक्षयति, परकीयेति ।—परकीया—परकीयेति सन्नया प्रसिद्धा नायिका अपि, अनूढा इव—अविवाहिता यथा, “अनुरक्ताऽनुरक्तेन” इत्यादिलक्षणा नायिका इवेत्यर्थः, स्यात्—भवेत्, अनूढालक्षणान्विता भवेदिति समुदितार्थः, किन्तु अनयोः,—परकीयाऽनूढयोः, वाच्यभेदः,—वचनीयविशेषः, यद्वा—वाच्यः,—वक्तुं शक्यः, भेदः,—अन्तरमित्यर्थः, अस्ति—विद्यते, एका—परकीया, अतिकामा—निरतिशयकामपरतन्त्रा सतीत्यर्थः, स्वयम् अपि—आत्मनापि, न केवल सखीमुखेन, स्वमुखेनापीत्यर्थः, प्रगल्भतया इति भावः, एका—अन्या, अनूढा इत्यर्थः, सख्यैव—सखीमुखेनैवेत्यर्थः, ( न तु स्वमुखेनेति एवकारव्यवच्छेद्य बोध्यम् ) लज्जाप्रधानतयेति भावः, प्रियं—कान्तं, वदेत्—कथयेत्, स्वाभिप्रायप्रकाशयेदित्यर्थः ।

परकीयोदाहरणम्,—

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाऽह-  
मस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।  
किं याचसे ? तदिह वासमिय वराकी  
श्वश्रूर्ममान्धवधिरा ननु मूढपात्र्य ॥

अस्यार्थो यथा,—यत्—यतः, अहम् अबला—रमणी, न केवलम् अबला, किन्तु एकाकिनो—असहायेत्यर्थः, [ एतेन निर्वाधविहारसम्भावना सूचिता ] तत्रापि तरुणी—युवती ; [ एतेन अधिकवयस्त्वसम्भावनया मम सुरतायोग्यत्व न शङ्क-

पणाङ्गनालक्षणमाह,—

सामान्यवनिता वेश्या भवेत् कपटपण्डिता ।

न हि कश्चित् प्रियस्तस्या दातारं नायकं विना ॥ १४ ॥

नौयमिति व्यन्यते ] तत्रापि नाह भर्तृसङ्गता इत्याह, अस्मि-  
न्निति ।—अस्मिन्—एतस्मिन्, गृहे—भवने, गृहपतिश्च—गृह-  
स्वामी, एतद्गृहाधिकारी. मत्पत्नित्वार्थः, विदेशं—देशान्तरं,  
गतः,—प्रस्थितः, [ एतेन सुदोर्घकालेनापि तदुपस्थितसम्भा-  
वना नास्ति इति सूचितम् ] वराकौ—दीना, ( वार्षकेन  
आभ्यवाधिर्येण चास्या वराकोत्वं बोध्यं ) मम—मे, इयं—  
परिदृश्यमाना, स्वप्न—भर्तृजननी, अन्यवधिरा—अन्या—  
दृष्टिशक्तिहीना, वधिरा—श्रुतिशक्तिहीना च, [ एतेन अस्याः  
समक्षम् आवाभ्या स्वच्छन्दविहारे तथा प्रेमालापे कृतेऽपि  
अनया द्रष्टुं श्यो वा न शक्यते इति सूचितम् ] तत्—ततः,  
ननु—भो । स्मृष्टपान्य । अविवेकिपथिक । इह—अस्मिन् गृहे,  
किं—केन प्रकारेणेत्यर्थः, वास—वसतिम्, आश्रयमित्यर्थः,  
याचसे, १—अर्थयसे ? अत्र एकाकिनीत्वभर्तृविरहितत्वादिना  
गृहस्य निजनत्वकथनेन भङ्गा स्वमुखेनैव तरुणीय पथिकस्य  
स्वगृहे रात्रिंवासं याचते इति अस्या. पुरकोयात्वसङ्गतिर्बोध्या ।  
वसन्ततिलक वृत्तम् ॥ १३ ॥

अथक्रमप्राप्ता पणाङ्गनां लक्षयति, सामान्येति ।—सामान्य-  
वनिता—सामान्या—सवसाधारणोपभोग्यत्वात् साधारणी,  
वनिता—स्त्री, वेश्या—पणाङ्गना, कथ्यते इति शेषः ; सा च  
कपटपण्डिता—कपटे—चातुर्ये, पण्डिता—क्वचक्षणा, भवेत्  
—स्यात्, तथा, दातार—दानशीलं, बहुधनदमिति यावत्,  
नायक—कामयितारमित्यर्थः, विना—अन्तरेण, कश्चित्—कः

अपि जनः इत्यर्थः, तस्याः,—वेश्यायाः, प्रियः,—इष्टः, अभिमतः  
इत्यर्थः, न हि—नैव, स्यादिति शेषः ।

वेश्योटाहरणम्,—

या विचित्रविटकोटिनिष्ठया मद्यमांसनिरताऽतिनिष्कृष्टा ।  
कोमला वयसि चेतसि दुष्टा तां भजन्ति गणिका न हि शिष्टाः ॥

अस्यार्थो यथा,—या—गणिका, विचित्राणा—नानाविधाना-  
नामित्यर्थः, नराणा भिन्नप्रकृतिकत्वमिति भावः, विटाना—  
“वेशोपचारकुशलो वाग्सी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्” इत्युक्त-  
लक्षणाना नागरिकविशेषाणा, लम्पटाबां वा, कोटिभिः,—समूहैः,  
बहुमह्वप्रकभिन्नप्रकृतिकैरुपपत्तिभिरित्यर्थः, निष्ठया—उपमर्दिता,  
धर्षिता इत्यर्थः, मद्यमांसनिरता—मद्यमांसयोः अत्यासक्ता,  
तदशनपरायणजनमनोरञ्जनार्थं रागोद्रेकार्थं वा इति भावः,  
वयसि—यौवने, कोमला—सुकुमारा, सुकुमाराङ्गोत्यर्थः, तथाऽपि  
चेतसि—अन्तःकरणे, दुष्टा—दोषयुक्ता, निर्दया इत्यर्थः, अत  
एव अतिनिष्कृष्टा—अतिहीना, अत्यधमा इति यावत्, भवतीति  
शेषः, ता—तादृशीमित्यर्थः, गणिका—वेश्यां, शिष्टाः,—धीराः,  
शान्तप्रकृतिका नरा इत्यर्थः, न हि—नैव, भजन्ति—सेवन्ते,  
रमणार्थमिति भावः । स्वागता वृत्तम्,—“स्वागता रनभगैर्गुरुणा  
च” इति तल्लक्षणात् ।

अन्यच्च,—

जात्यन्धाय च दुर्मुखाय च जराजीर्णाखिलाङ्गाय च  
ग्रामोणाय च दुष्कुलाय च गलत्कुष्ठाभिभूताय च ।  
यच्छन्तोषु मनोहरं निजवपुर्लक्ष्मालवश्रद्धया  
पण्यस्त्रीषु विवेककल्पलतिकाशस्त्रीषु को रज्यते ? ॥

अस्यार्थो यथा,—प्राक्गणिकाऽऽसक्ततया क्षयितसर्वस्वस्य  
निर्विस्वस्य कस्यचित् विरागिण उक्तिरियम् । प्रतिपदप्राधान्य

द्योतनार्थमतः प्रतिपदोत्तर चकारप्रयोगः । जात्यन्धाय च—  
जात्या—जन्मनां एव, अन्धाय—दृष्टिशक्तिहीनाय चेत्यर्थः,  
जन्मनः प्रभृति अन्धतया रूपलावण्यादिसौन्दर्यगुणाग्राहिणे  
इति भावः, दुर्भुखाय च—अप्रियवादिने च, दुर्दर्शनवदनाय  
वा, कटुभाषिणि विकृतवदने वा जने क्रयमपि अनुरागः न  
सम्भवतीति भावः, जराजीर्णाखिलाङ्गाय च—जरया—वार्धकेन,  
जीर्णानि—परिपक्वानि, जर्जराण्येत्यर्थः, अखिलानि—सर्वाणि,  
अङ्गानि—अवयवाः यस्य तस्मै, अतिवृद्धायेत्यर्थः, वार्धकेन  
शिथिलानाम् अङ्गानां सर्वथाऽसामर्थ्येन निधुवनविहारासम-  
र्थाय इति भावः, ग्रामीणाय—ग्राम्याय, अविदग्धाय इत्यर्थः,  
ग्राम्यतया विविधसुरतकलाऽनभिज्ञाय इति भावः, दुष्कुलाय—  
नीचकुलोद्भवाय च, असद्वृत्ततया मदमद्विवेकशून्यत्वात् व्यव-  
हाराभिज्ञायेति भावः, तथा गलत्कुलाभिभूताय च—पृथादि-  
स्त्राविकुष्ठरोगाक्रान्ताय अपि, तादृशकुलतरोगाक्रान्ततया  
असृश्यायेति भावः, ( सर्वत्रैव प्रचुरधनदाय जनाय इति शेषो  
बोध्यः ) लक्ष्मीलवश्रद्धया—लक्ष्मीलवस्य—धनलेशस्य, अत्यल्प-  
स्याप्यथेस्य इत्यर्थः, श्रद्धया—आसक्त्या, लोभेनेत्यर्थः, मनोहर-  
सुकुमार, योवनरमणीयमित्यर्थः, निजवपुः,—स्वदेहं, यच्छन्तीषु  
—अर्पयन्तीषु, पण्यस्त्रीत्वादिति भावः, विवेककल्पलतिका-  
शस्त्रीषु—विवेक,—सदसद्विचार एव कल्पलतिका—कल्प  
व्रतति, कामदुघा वल्लीति यावत्, [ कल्पलता एव इति  
कल्पलतिका, कल्पलताशब्दात् स्वार्थे कन् ] तस्या, शस्त्री  
—क्षुद्रशस्त्र, छेदनार्थां कुरिका इत्यर्थः, ( वेश्यानां विवेक-  
विध्वंसकत्वात् तत्र कुरिकात्वारोपः बोध्यः ) पण्यस्त्रीषु—पणा-  
ङ्गनासु, वेश्यासु इत्यर्थः, कः—को जनः, रज्यते ?—अनुरक्तो  
भवति ? न कोऽपीत्यर्थः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ॥ १४ ॥

—वेश्यादिनायिकाना विशेषमाह,—

सर्वप्रकाशमेवैषा याति नायकमुद्धता ।

वाच्यः प्रच्छन्न एवान्यस्त्रीणां प्रियसमागमः ॥ १५ ॥

विप्रलम्भ-शृङ्गारभेदानाह,—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मकः ।

विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात् पूर्वः पूर्वी ह्यथं गुरुः ॥ १६ ॥

वेश्यादिनायिकाना लज्जादिषु विशेषमाह, सर्वेति ।—  
एषा—वेश्या नायिका, [ वेश्याया एव प्रकान्तत्वात् अत्र एत-  
च्छब्देन तस्या एव बोधः ] उद्धता—प्रगल्भा, अविनीतवेशा  
इत्यर्थः, निस्त्रपा सतीति यावत्, सर्वप्रकाशं—सर्वसमक्षम्  
एव, नायकं—कान्त, प्रार्थयितारमित्यर्थः, याति—गच्छति ।  
अन्यस्त्रीणाम्—स्वकीयादीना पूर्वोक्ताना तिसृणा नायिकानां,  
प्रियसमागमः,—कान्तेन सह सयोगः, प्रच्छन्नः एव—गूढः  
एव, अनन्यपुरुषसमक्षमेवेत्यर्थः, 'वाच्यः,—वक्तव्यः, वर्णनीयः  
वा ॥ १५ ॥

शृङ्गाररसालम्बननायकनायिकामेदानुक्ता इदानीं प्रागु-  
क्तयोः शृङ्गारभेदयोः विप्रलम्भसयोगयोः विप्रलम्भस्य भेदा-  
नाह, पूर्वेति ।—विप्रलम्भः,—तदाख्यशृङ्गारभेदः, पूर्वानुराग-  
मानात्मप्रवासकरुणात्मकः,—पूर्वानुरागस्वरूपः, मानस्वरूपः,  
प्रवासस्वरूपः, करुणस्वरूपश्च इति भेदादित्यर्थः, चतुर्धा—  
चतुर्विधः, स्यात्—भवेत् । अयं—चतुर्भेदात्मकः विप्रलम्भः,  
हि—अवधारणे, पूर्वः पूर्वः,—प्रथमः प्रथमः, यथापूर्वमित्यर्थः,  
गुरुः,—बलवान्, भवतीति शेषः ; तथा च करुणात् प्रवासः,  
प्रवासात् मानः, मानात् पूर्वानुरागः श्रेष्ठः, ( दुःसह. ) इति  
भावः ॥ १६ ॥

पूर्वानुरागलक्षणमाह,—

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः ।

ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्मृहयोर्दशा ॥ १७ ॥

तत्र क्रमप्राप्तं पूर्वानुरागमादौ लक्षयति, स्त्रीपुंसयोरिति ।  
—नवालोकात् एव—अभिनवदर्शनात् एव. [ अत्र नवालीक-  
पद श्रवणस्यापि उपलक्षणम्, तथाचोक्त दर्पणे,—“श्रवणादर्श-  
नाहाऽपि मिथः संखटरागयोः । दशाविशिषो योऽप्राप्तौ पूर्व-  
रागः स उच्यते ॥” इति.) उल्लसितः,—उज्जृम्भितः, उद्दीपित  
इत्यर्थः, रागः,—प्रीतिः ययो तथाभूतयो, अभिनवदर्शनमात्र-  
मेव समुज्जृम्भितपरस्परानुरागयोरित्यर्थः, किन्तु अपूर्णा—  
असिद्धा, स्मृहा—अभिलापः ययोः तयोः, अदृष्टमनोरथयोः  
इत्यर्थः, स्त्रीपुंसयोः,—नायकनायिकयोरित्यर्थः, या दशा—  
श्रवणस्याविशिषः, अयं पूर्वानुराग,—पूर्वरागनामको विप्रलम्भः  
इत्यर्थः, ज्ञेयः,—बोध्यः । अत्र च दशविधा दशा भवति,  
तदाह दर्पणकारः,—“अभिलापयिन्तास्मृतिगुणकथनोद्देश-  
सम्प्रापय । उन्मादोऽयं व्याधिर्जडता स्मृतिरिति दशाऽत्र  
कामदशा ॥ अभिलाप. स्मृहा चिन्ता प्राप्सुपायादिचिन्त-  
नम् । उन्मादद्यापरिच्छेदयेतनाचेतनंष्वपि ॥ अलक्ष्यवाक्  
प्रलाप. स्याजेतमो भ्रमणाद् भ्रमम् । व्याधिस्तु दीर्घ-  
निश्चामपाण्डितादृगताऽऽदयः ॥ जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां  
मनमस्तथा ॥” इति ।

५०१११११,—

“प्रेमादा प्रणयस्यग परिचयाद्दहादरागोदया-  
स्ताप्ता मग्धदृगो निमगंसधुरासेटा भवेयुसंयि ।  
यागस्त करणज यागकरण्यांपाररीधी सगा-  
दागंसापरिजम्पिताम्यपि भवन्तानन्दमान्द्रोदय ॥



विप्रलम्भप्रकारभेदे पूर्वानुरागे जाबमानासु दशसु दशासु  
 अभिलाषमुदाहरति, प्रेमार्द्रा इति ।—सुग्धदृशः,—सुग्धे—  
 सुन्दरे, दृशौ—नेत्रे यस्याः तथाभूतायाः, मालत्या इत्याशयः,  
 प्रेमार्द्राः, प्रेम्ना—स्नेहेन, अनुरागेण वा, आर्द्राः,—सिक्ताः,  
 कीमला इत्यर्थः, प्रणयसृग्, —प्रणयं—प्रीति, सृग्शन्तीति  
 तादृश्यः, प्रीतिपूर्णा इत्यर्थः, परिचयात्—पुनः पुनर्दर्शनादि-  
 व्यापारादित्यर्थः, उद्गाढरभोदयाः—उद्गाढस्य—अतिशयेन  
 दृढस्य, रागस्य—अनुरागस्य, अत्यामक्तेरित्यर्थः, उदयः,—  
 आविर्भावः यासु ताः, दृढानुरागश्लिष्य इत्यर्थः, निसर्ग-  
 मधुराः,—निसर्गात्—स्वभावादेव, मधुराः,—मनोहारिण्यः,  
 ताः ताः,—अतिप्रसिद्धा इत्यर्थः, अपाङ्गविचेपाटिरूपाः इति  
 यावत्, चेष्टाः,—व्यापाराः, मधि—माधवे इत्यर्थः, भवेयुः,—  
 स्युः, पुनर्भवन्तु इत्यर्थः, यासु—चेष्टासु, आशंसा—अभिलाषः,  
 तथा परिकल्पितासु—सङ्कल्पितासु, सङ्कल्पविषयीभूतासु सतीषु  
 इत्यर्थः, अपि क्षणात्—क्षणमात्रेणैव, मर्नास उदयसमेकाल-  
 मेवेत्यर्थः, वाह्यकरणव्यापाररोधी—वाह्यानां—वह्निभवाणां,  
 करणानाम्—इन्द्रियाणाम्, चक्षुरादीनामित्यर्थः, व्यापारः,—  
 स्वस्वविषयग्रहणरूपः इत्यर्थः, तस्य रोधी—अवरोधकः, वह्नि-  
 रिन्द्रियविषयग्रहणव्याघ्रतकः इत्यर्थः, अन्तःकरणस्य—अन्त-  
 रिन्द्रियस्य, मनस इत्यर्थः, आनन्दसान्द्रोदयः,—आनन्दस्य—  
 हर्षस्य, सान्द्रः,—निविडः, पूर्ण इत्यर्थः, उदयः,—आविर्भावः,  
 गाढानन्दात्पत्तिरित्यर्थः, भवति—जायते । अत्र मालत्याः  
 साक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्य अभिलाषः सम्पूर्णरूपेणैव  
 अभिव्यक्तः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । अन्यच्च,—

कथमीचे कुरङ्गाचीं साक्षात्क्ष्मीं मनोभुव ।

इति चिन्ताकुल. कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥

विप्रलम्भप्रकारभेदे पूर्वानुरागे जायमानावस्थाविशेषरूपां चिन्तामुदाहरति, कथमिति ।—मनोभुवः,—मनसः,—अन्तः-  
करणात्, भूः,—उद्भवः, यस्य तथोक्तस्य, कामस्येत्यर्थः, साक्षात्  
—मूर्त्तमतीमित्यर्थः, लक्ष्मीं—श्रीस्वरूपिणीमित्यर्थः, साक्षा-  
द्रतिस्वरूपिणीमिति यावत्, कुरङ्गाचीं—मृगनयनां, तां  
रमणोमिति शेषः, कथं—केनोपायेनेत्यर्थः, ईदृशे ?—पश्यामि ?  
इति चिन्तया—स्मृत्या, एतद्विषयकंध्यानेनेत्यर्थः, आकुलः,—  
व्याकुलः, कान्तः,—प्रियः, नायकः इत्यर्थः, निशीथिनीं—  
रजनीं व्याप्येत्यर्थः, [ अत्र अत्यन्तसयोगे द्वितीया ] निद्रा—  
स्वप्नं, न एति—न गच्छति । अत्र कान्तादर्शनीत्सुकस्य  
नायकस्य तदेकतानतालक्षणचिन्तारूपं पूर्वानुरागावस्था-  
विशेषो दर्शितः । पथ्यावक्तव्यं । अपरञ्च ।—

त्रिभागशिष्टासु निशासु च क्षण

निमील्य नेत्रे सहसा व्यवुध्यत ।

क्व नीलकण्ठ ! व्रजशीत्यलक्ष्यवाक्

असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना ॥

अथ पूर्वरागावस्थाविशेषं प्रलापमुदाहरति, त्रिभागेति ।  
—अत्र पाव्वेतीति कर्त्तृपदं प्रथमत एव अध्याहर्त्तव्यम् ।  
द्वितीयो भागः इति त्रिभागः, [ क्वचित् सङ्घराशब्दस्य वृत्तिविषये  
पूरणार्थत्वमिष्यते इति बोध्यम् ] स. एव शेषः अवशेषः यासा  
तासु, द्वितीयभागावशिष्टासु इत्यर्थः, निशासु—रात्रिषु, रात्रे-  
स्तृतीययामसमये इत्यर्थः, क्षण—किञ्चित्कालमित्यर्थः, नेत्रे—  
नयने, निमील्य—मुद्रणं कृत्वा, निद्रया तदेकतानध्यानपरतया  
वा निमीलितनेत्रा भूत्वा इत्यर्थः, “हे नीलकण्ठ !—हे शिति-  
कण्ठ शिव । क्व—कुत्र, व्रजसि ?—गच्छसि ?” इति अलक्ष्य-  
वाक्—अलक्ष्या—अविषया, विना लक्ष्यमित्यर्थः, वाक्—वचनं

मानप्रवासधीलंक्षणमाह,—

मानोऽन्यवनितासङ्गादीर्ष्याविकृतिरुच्यते ।

प्रवासः परदेशस्थे प्रिये विरहसम्भवः ॥ १८ ॥

यस्याः, तथाभूता, निरर्थकप्रलापवचना इत्यर्थः, असत्ये—  
अलीके, मिथ्याभूते इत्यर्थः, स्वप्नविषयत्वादिति भावः, कण्ठे—  
गलदेशे, हरस्येति भावः, यद्वा,—असत्यस्य—स्वप्नदृष्टतया अप्र-  
कृतस्य, शिवस्येति शेषः, कण्ठे—गलदेशे, अर्पितं—न्यस्त,  
बाह्याः,—भुजयो, बन्धनम्—आश्लेषः इत्यर्थः, यया तादृशी  
सती, सहसा—हठात्, तत्क्षणमेवेत्यर्थः, व्यबुध्यत—अजा-  
गरीत् । अत्र देव्याः अलक्ष्यवाक्त्वेन प्रलापः प्रदर्शितः ।  
एवम् अन्यानि उन्मादव्याध्यादीनाम् उदाहरणानि कृश्याणि,  
विस्तरभयात् नात्रोद्धृतानि । वशस्थविलं हृत्तम् ॥ १७ ॥

मानं प्रवासञ्च एकैव श्लोकेन लक्षयति, मानेति ।—अन्य-  
वनितासङ्गात्—अन्यस्याः,—अपरस्या, स्वभिन्नाया इत्यर्थः,  
वनितायाः,—स्त्रिया, सङ्गात्—ससर्गात्, अपरस्त्रीससर्गादि-  
त्यर्थः, पत्युरिति भावः, या ईर्ष्या—अक्षमया, द्वेषित्यर्थः,  
विकृतिः,—मनोविकारः, स्त्रीणांमिति शेषः, सः मानः,—  
तदाख्यविप्रलम्भभेदः इत्यर्थः, उच्यते—कथ्यते । उपलक्षणमेतत्,  
प्रणयमानस्यापि सम्भवात् । तच्च उक्तं दर्पणकारेण,—“मानः  
कोपः स तु द्वेषा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः । द्वयोः प्रणयमानः स्यात्  
प्रमोदे सुमहत्त्यपि ॥ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं  
विना ॥” इति । मानं लक्षयित्वा इदानीं प्रवासं लक्षयति,  
प्रवास इति ।—प्रिये—कान्ते, पत्यावित्यर्थः, परदेशस्थे—  
भिन्नदेशं गते, प्रोषिते मृतीत्यर्थः, यः विरहसम्भवः,—विच्छेदो-  
त्पत्तिः, सः प्रवासः,—तदाख्यविप्रलम्भभेदः, उच्यते इति शेषः ।

उक्तञ्च दर्पणे,—“प्रवांसो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ-  
मात्” इति ।

तत्र मानोदाहरणं यथा,—

लिखन्नास्ते भूमिं वंहिरवनतः प्राणदयितो

निराहारा सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।

परित्यक्तं सर्व्वं दशितपठितं पञ्चरशुकै

स्तवावस्था चेय विसृज कठिने । मानमधुना ॥

विप्रलम्भाख्यशृङ्गारप्रकारभेदं मानमुदाहरति, लिखन्निति ।

—काञ्चित् मानिनीं नायिकां प्रति सख्या उक्तिरियम् । प्राण-  
दयितः,—प्राणेश्योऽपि प्रियतम, तव कान्त इत्यर्थः, अवनतः,  
—नतशिराः, विनीतः सन्नित्यर्थ, कृतापराधत्वात् तव प्रसादा-  
काङ्क्षयेति भावः, भूमि—महीं, भूतलमित्यर्थः, लिखन्—  
नखैरङ्कयन्, [ एतेनास्य स्वकृतापराधप्रशमनार्थं चिन्तान्क्षण  
प्रदर्शितम् ] वहिः,—गृहाद् बाह्यप्रदेशे इत्यर्थ, द्वारप्रान्ते  
इति यावत्, आस्ते—तिष्ठति, तथा सख्यः,—ते सहचर्य्यः,  
सतत—निरन्तर, रुदितेन—रोदनेन, सख्यास्ते मनस्ताप-  
दर्शनजनितक्लेशोद्भूतेन क्रन्दितेनेति यावत्, उच्छूने—नियताशु-  
पतनात् स्फीते इत्यर्थ, नयने—लोचने यासा तथाभूताः अत  
एव निराहारा,—उपोषिताः सख्य, वर्त्तन्ते इति शेष, पञ्चर-  
शुकै,—पञ्चरस्यगृहपालितशुकपर्चिभिः, दशितपठितं—  
दशनपठनादिका सर्व्वमेवेत्यर्थः, [ दशितञ्च पठितञ्चेति विग्रहे  
समाहार इत्वे दशितपठितमिति पद सिद्धम् । एतादृशस्थले  
समाहारस्तु चिन्तनीयः ] परित्यक्त—परिहृत, तवादर्शन-  
जनितदुःखादिति भावः, तव च—भवत्या अपीत्यर्थः, इयम्  
—ईदृशी, मनिना इत्यर्थः, अवस्था—दशा, वसनभूषणादि-  
हीन-धूलिधूसरितादेहात्मिका इत्यर्थः, दृश्यते इति शेषः,

अत एव हे कठिने ।—निष्ठुरे सहर्दार ! अधुना—इदानीं,  
मानं—प्रणयिनि अभिमानमित्यर्थः, कोपमिति यावत्,  
विस्मृज—त्यज ; चिरं मानिनी आसी, इदानीमेतेषा-  
मस्माक ल्लेशापनयनार्थं मान विहाय कान्तसङ्गता भवेति  
भावः । अत्र पत्युरन्यप्रियासङ्गशङ्कितायाः नायिकायाः विप्र-  
लम्भशृङ्गारप्रकारविशेषरूपः ईर्ष्यामानो बोध्यः । शिखरिणी  
वृत्तम् ।

एवं प्रवासोदाहरणं यथा,—

यामः सुन्दरि । याहि पान्य । दयिते । शोक वृथा मा कृथाः,  
शोकस्ते गमने कुतो मध ? ततो वाप्यं कथ सुञ्चमि ? ।

शीघ्रं न व्रजसौति, मा गमयितुं कस्मादिय ते त्वरा ?

भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे सम्भ्रमः ॥

विप्रलम्भाख्यशृङ्गारप्रकारभेद प्रवासमुदाहरति, याम इति ।  
—प्रवासं जिगमिषोर्नायकस्य नायिकायाः सकाश गमनानु-  
मतिप्रार्थनाकाले तयोः उक्तिप्रत्युक्तिरियम् । हे सुन्दरि ।—  
सुरूपे । यामः ?—गच्छामः ? विदेशमिति शेषः, [ इति  
नायकस्योक्तिः । अत्र नायकस्य एकत्वेऽपि वयमिति कर्तु-  
र्बहुत्वम् “अस्मदो द्वयोश्च” ( १।२।५६ पा० ) इत्यनेन सिद्धम् ] ।  
हे पान्य !—भोः । पथिक । याहि—गच्छ, यथाऽभिमतदेश-  
मिति शेषः, [ इति नायिकायाः प्रत्युक्तिः ] । अत्र गमन-  
प्रार्थनामात्रेणैव नायिकया यत् “पान्य” इति सम्बोधनं कृतं,  
तेन अगतेऽपि तस्मिन्नचिरादेवावश्यगमनसूचनादात्मनि प्रियस्य  
प्रणयाभावः प्रकटितः, तदेवानुमीय नायकः सपद्येव “दयिते”  
इति प्रतिसम्बुद्ध्याह, दयिते इति ।—दयिते ।—प्रियतमे । वृथा  
—निरर्थक, शोकं—शुच, दु खमित्यर्थः, मा कृथाः,—न कुरु,  
[ इति नायकस्योक्तिः । “मा कृथाः” इति अनुज्ञाऽर्थेऽपि माङ्-

शब्दयोगात् “माडि लुड्” ( ३।३।१७५ पा० ) इति लुड् ]  
 ते—तव, गमने—प्रवासप्रयागे इत्यर्थः, मम—मे, शोकः,—  
 मन्यः,—दुःखमित्यर्थः, कुत,—किमर्थम् ? [ इति नायिकायाः  
 प्रबलदुःखाभिव्यञ्जिका प्रत्युक्तिः ] । ततः,—तदा, शोक न  
 करोषि चेदित्यर्थः, कथ—केन हेतुनेत्यर्थः, वाष्पम्—अश्रु  
 इत्यर्थः, मुञ्चमि—त्यजसि ? किं रोदिषीत्यर्थः, [ इति नायक-  
 स्योक्तिः ] । शीघ्र—सत्वरम्, अनतिविलम्बेनैत्यर्थः, न व्रजसि  
 —न गच्छसि, इति—इति हेतोरित्यर्थः, वाष्पं मुञ्चामीति  
 शेषः ; [ इति नायिकायां प्रत्युक्तिः ] । मा गमयितुं—  
 देशान्तरं प्रेरयितुमित्यर्थः, ते—तव, इयम्—ईदृशी, त्वरा—  
 व्यग्रता, कस्मात्—किमर्थम् ? [ इति नायकस्योक्तिः ] । त्वया—  
 देशान्तर गच्छता भवता इत्यर्थः, सह—साहं, जिगमिषो,—  
 गन्तुमिच्छो, मा विहाय अन्यत्र यातुमभिलाषुकस्येत्यर्थः, मे—  
 मम, अस्य—एतस्य, कण्ठागतस्य इति भावः, जीवस्य—जीव-  
 नस्य, भूयान्—महान्, निरतिशय इत्यर्थः, सन्धमः,—त्वरा,  
 त्वामविलम्बेनैव देशान्तर गमयितुं मम तु कापि त्वरा नास्ति,  
 किन्तु केवल त्वामनुमर्तुमभिलाषतः मज्जीवनस्यैव इयं त्वरा  
 इत्यर्थः, अविलम्बेन अवश्यमेव प्रवास जिगमिषुणा त्वया सह  
 गन्तुः कृतनिश्चया मत्प्राणाः कण्ठागतस्तुष्ठान्ति, तव विलम्बं  
 दृष्ट्वा ते अतीव सम्भ्रान्ता वृत्तन्ते इत्याशयः । तव प्रवासगमना  
 व्यवहितोत्तरमेव नूनमहं मरिष्यामि इति भावः । अत्र  
 गमनस्य कान्तासम्प्रतिसापेक्षतया सम्भावनामात्रत्वेन, कार्यादि-  
 निमित्तभेदेन भिन्नेषु त्रिविधप्रवासेषु कार्यजन्यः भाविप्रवा-  
 साख्य प्रवासभेद दर्शितः, तथा च दर्पणे,—“भावी भवन्  
 भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः” इति । शार्दूलविक्रीडितं  
 वृत्तम् ॥ १८ ॥

करुणविप्रलम्भलक्षणमाह,—

स्यादेकतरपञ्चत्वे दम्पत्योरनुरक्तयोः ।

शृङ्गारः करुणाख्योऽयं वृत्तवर्णन एव सः ॥ १६ ॥

अथावसरप्राप्त विप्रलम्भभेदं करुणं लक्षयति, स्यादिति।—  
अनुरक्तयोः,—अन्योऽन्यानुरागिणोः, परस्परप्रेमवतोरित्यर्थः,  
दम्पत्योः,—जायापत्यो, स्त्रीपुंसयोरित्यर्थ, एकतरस्य—अन्य-  
तरस्य, नायकस्य नायिकाया वा इत्यर्थः, पञ्चत्वे—मरणे मति,  
यः शृङ्गारः,—विप्रलम्भाख्यः शृङ्गाररस इत्यर्थः, सोऽयं करु-  
णाख्यः,—करुणसंज्ञकः विप्रलम्भभेदः इत्यर्थः, स्यात्—भवेत् ;  
स च,—करुणविप्रलम्भ इत्यर्थ, वृत्तस्य—अतीतस्य, न तु वर्त्त-  
मानस्य भाविनो वा, वस्तुन इति शेषः, वर्णने,—कथने, एव,  
प्रयोज्यः इति शेषः । स च यथा कादम्बर्यां महाश्वेतापुण्डरीक-  
वृत्तान्ते, तथा कुमारसम्भवे रतिविलापे च । अयञ्च करुण-  
शृङ्गारः मृतस्य एकतरस्य पुनर्लभ्यत्वे ज्ञेयः । अलभ्यत्वे  
शरीरान्तरेण वा लभ्यत्वे करुणाख्यः एव रसः ।

यच्चात्र करुणविप्रलम्भाख्यशृङ्गाररसविषयतया,—

तीरात्तीरमुपैति रीति करुणं चिन्ता समालम्बते  
किञ्चिद् ध्यायति निश्चलेन मनसा योगीव रुडेक्षणः ।

स्वां ह्यायामवलोक्य क्लृप्तं च यः कान्तामृतौ चक्रवत्

धन्योऽयं प्रणयी न रासभ इव स्याद् यत्र तत्रादृतः ॥

इत्युदाहृत केनचित्, तदयुक्त, अत्र प्रियायाः पुनः अलभ्यत्वेन  
अस्य करुणरसविषयत्वात् इति सुधीभिर्भाव्यम् ; अस्यार्थः,—  
तीरादिति ।—कस्यचित् मृतदारस्य अवस्थावर्णनमिदम् । यः  
अयं प्रणयी—प्रणयवान्, प्रेमिक इत्यर्थः, कान्तामृतौ—  
कान्तायाः,—स्वप्रियायाः, मृतौ—मरणे, चक्रवत्—चक्रवाक

‘वीररसनक्षणमाह.—

उत्साहात्मा भवेद्वीरस्त्रिधा धर्माजिदानतः ।

नायकोऽत्र भवेत्सर्व्वैः श्लाघ्यैरधिगतो गुणैः ॥२०॥

इव, तीरात्—एकस्मात् तटप्रदेशात्, तौरम्—अपरतटम्, उपैति—प्राप्नोति, करुण—दीनं यथा तथेत्यर्थः, रौति—शब्दायते, विलपतीत्यर्थः, चिन्ता—तदेकाग्रताम् आध्यानमित्यर्थः, समालम्बते—आश्रयति, चिन्तापरो भवतीत्यर्थः, तथा योगीव—योगमग्नः तापस इवेत्यर्थः, रुद्धेक्षणः,—निमीलितनयनः सन्, निश्चलेन—स्थिरेण, विषयान्तरव्यावृत्तेर्नति यावत्, मनसा—चेतसा, किञ्चित्—किमपि, ध्यायति—चिन्तयति, स्वा—निजामपि इत्यर्थः, क्वाया—प्रतिविम्बम्, अवलोक्य—दृष्ट्वा, कूजति—अव्यक्तशब्दं करोति, कान्तागमनभ्रान्त्या इति भावः, सोऽगं धन्यः,—प्रशस्यः, मृतायामपि कान्ताया तत्रैवामक्तत्वात् इति भावः, यतः रासभ इव—गर्दभवत्, यत्र तत्र—यस्मिन् कस्मिन् स्थाने इत्यर्थः, सर्व्वत्रैव विचरणादिति भावः, आदृत,—सम्मानितः, विपरीतलक्षणाया अवमानितः इत्यर्थः, न स्यात्—न भवेत् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १८ ॥

समेदं शृङ्गारमुक्त्वा इदानीं वीर लक्षणयति, उत्साहेति ।—उत्साहः,—अध्यवसायः, आत्मा—स्वभावः, स्वरूपमित्यर्थः, यस्य तथाभूतः, रसः इति शेषः, वीरः,—तदाख्यो रसः, भवेत्—स्यात्, स तु धर्माजिदानतः,—धर्मयुद्धदानैः उपाधिभिरित्यर्थः, त्रिधा—त्रिविधः, धर्मवीरः युद्धवीरः दानवीरः इति त्रिप्रकारः इत्यर्थः, भवति इति शेषः । अत्र—अस्मिन् वीररसे इत्यर्थः, नायकः,—नेता, सर्व्वैः,—समस्तैः, श्लाघ्यैः,—प्रशसनीयैः, गुणैः,—धैर्य्याग्नीर्ष्यादिभिरित्यर्थः, अधिगतः,—युक्तः, भवेत्—



स्यात् । दर्पणकारेण तु दयावीररूपं चतुर्थं भेदं प्रकल्प्य अस्य चातुर्विध्यमुक्तम् ; यथा,—“स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्” इह तु धर्मवीरे एव तस्यान्तर्भावं कल्पयित्वाऽसौ पृथङ् नोक्तः ।

तत्र धर्मवीरोदाहरणं यथा दर्पणे,—

राज्यञ्च वसु देहश्च स्त्री च भ्रातृसुताश्च ये ।

यच्च लोके ममायत्तं तद्धर्माय सदोद्यतम् ॥

तेषु त्रिषु वीररसभेदेषु धर्मवीरमुदाहरति, राज्यमिति । —युधिष्ठिरस्योक्तिरियम् । राज्य—राजपदं, वसु—धनं, देहः,—निजशरारं, स्त्री—भार्या, ये च भ्रातृसुताः,—भ्रातरः,—सहोदराः, सुताः,—पुत्राश्च, वर्तन्ते इति शेष, किं बहुना, लोके—जगति, यच्च—यत् किञ्चिद्वस्तु इत्यर्थ, मम—मे. आयत्तम्—अधीन, मत्सम्बन्धि इत्यर्थ, तत्—तत्सर्वमित्यर्थः, धर्माय—परोपकारादिधर्मसाधनाय इत्यर्थः, [“धर्माय” इत्यत्र “परस्मै” इति पाठे,—परोपकारार्थमित्यर्थः ] सदा—सर्व-दैव, उद्यतम्—उत्सर्गोक्त, मयेति शेषः, अत्र परोपकारार्थं पुत्रकलत्रादानामपि त्यागे उत्साहप्रदर्शनात् धर्मवीरत्वमस्य बोध्यम् । पथ्यावक्तव्यम् ।

युद्धवीरोदाहरणं यथा,—

भो लङ्केश्वर । दीयता जनकजा राम स्वयं याचते

कोऽयं ते मतिविभ्रमः ? स्मर नय नाद्यापि किञ्चित् कृतम् ।

नैवञ्चेत् खरदूषणत्रिशिरसा कखडासृजा पङ्किलः

पत्नी नैष साहस्यते मम धनुर्ज्यात्रिन्धबन्धूकृतः ॥

अथ क्रमगात् युद्धवीरमुदाहरति, भो इति ।—रावण प्रति श्रीरामस्योक्तिरियम् । ‘भो लङ्केश्वर ।—लङ्कानाथ । रावण इत्यर्थः, जनकजा—जनकतनया, सीतेत्यर्थः, दीयता—

प्रत्यर्प्यतां, मह्यमिति शेषः; रामः,—खरदूषणादिहन्ता प्रसिद्धः  
 एष दशरथात्मज इत्यर्थः, [ अत्र स्वमुखेन स्वनामोच्चारणात्  
 गर्वातिरेकः सूचितः ] स्त्रयम्—आत्मना, स्वमुखेनैव, न तु  
 परमुखेनेति यावत्, याचते—प्रार्थयते, तामिति शेषः, ते—  
 तव, अयं—सीताहरणरूप इत्यर्थः, मतिविभ्रमः,—मतेः,—  
 बुद्धेः, विभ्रमः,—विशिष्टा भ्रान्तिः, बुद्धिविपर्ययास इत्यर्थः, क,  
 —कौटुम्भः ? किमर्थ इत्यर्थः, नयं—नीतिं, “भाटवत् परदारेषु”  
 इत्यादिरूपमित्यर्थः, स्मर—चिन्तय, परदारहरणादिकम-  
 कर्तव्यमिति स्मृत्वा सन्काशंभवत्स्व इति यावत् ; अद्यापि—  
 एतावत्कालपर्यन्तमपि, किञ्चित्—किमपि, दण्डविधानादिक-  
 मित्यर्थः, न कृतं—न अनुष्ठितमित्यर्थः, मयेति शेषः, चेत्—  
 यदि, एव—मदुक्तप्रकार, सीताप्रत्यपेणरूप कार्यमित्यर्थः, न,  
 करोषीति शेषः, तदा खरदूषणत्रिशिरसा—तत्तदाख्याना दण्ड-  
 कारणस्थत्वत्सेनापतीनामित्यर्थः, कण्ठासृजा—कण्ठरुधिरिण,  
 छेदनजनितनेति भावः, पङ्क्तिः,—कर्ममितः, कलुषित इति  
 यावत्, धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः,—धनुषः,—कार्मुकस्य, ज्याया—  
 मौर्व्या, बन्धेन—सयोजनेन, बन्धूकृतः,—अबन्धु. बन्धु कृत,  
 एकत्रावस्थानेन मित्रवत् आचारितः, धनुर्गुणारूढ इत्यर्थः, मम  
 एष,—हस्तस्थः, पत्नी—बाण, न झङ्घिष्यते—न क्षमिष्यते,  
 त्वामिति शेषः ; खरदूषणादीना कण्ठच्छेत्ता ममायं शरः तवापि  
 कण्ठं छेत्स्यतीति भावः । अत्र द्वितीयचतुर्थचरणाभ्या श्रीरामस्य  
 युद्धार्थमुत्साहातिशयवर्णनात् युद्धवीरविषयत्वमस्य बोध्यम् ।  
 शार्ङ्गलविक्रोडित वृत्तम् ।

दानवीरो यथा परशुरामः,—

उत्पत्तिजमदग्निः स भगवान् देवः पिनाकीं गुरु-  
 वीर्यं तत्र न मद्भिरामनुपम व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।

त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः

सत्यब्रह्मतपोनिधेर्भगवतः किं किं न लोकोत्तरम् ? ॥

अथ क्रमप्राप्त दानवोरमुदाहरति, उत्पत्तिरिति ।—जम-  
दग्निः,—भृगुनन्दनात्, स्वनामख्यातमुनिविशेषादित्यर्थः,  
उत्पत्तिः,—जन्म, अभवदिति शेषः, अत्र “यस्य” इति सम्बन्धि-  
पदमध्याहार्यम्; सः,—प्रसिद्धः, भगवान्—षडैश्वर्यशाली,  
देवः,—द्यातनात्मा, “दौञ्च्यति क्रोडति यस्मात् रोचते द्योतते  
दिवि । तस्माद्देव इति प्रोक्त. स्तूयते सर्वदेवतैः ॥” इत्युक्त-  
लक्षणः परमेश्वरः इत्यर्थः, पिनाको—पिनाकाख्यधनुर्द्वारी  
महादेव, गुरुः,—धनुर्वेदोपदेष्टा इत्यर्थः, अत्रापि “यस्य” इति  
पदमूहनीयम्; तत्र—यत्र ईदृशवोर्योर्लक्ष्णसामग्रीसमवायः  
विद्यते तस्मिन् जामदग्न्ये परशुरामे इत्यर्थः, यत् अनुपमम्,—  
अतुलनीयम्, अत्युत्कटमिति यावत्, वीर्यं—पराक्रम, विद्यते  
इति शेषः, तत्, मङ्गिरा—मम वचसा, न विषय इति शेषः,  
अतुलपराक्रमस्य तस्य वीर्यं वाक्येनाह प्रकाशयितुं न शक्नोमीति  
भावः, तत्—वीर्यमित्यर्थः, कर्मभिः,—एकविंशतिकृत्वानि.क्ष-  
त्रियकरण-कात्तवोर्यहननादिरूपैरित्यर्थः, व्यक्त हि—प्रकटित-  
मेव, तस्य पराक्रमस्य इयत्ता नास्त्येवेति भावः । न केवलमथ  
युद्धवोरः, अपि तु दानवोरोऽपि इत्याह, त्याग इति ।—त्यागः,  
—दान, दानशक्तिरित्यर्थः, सप्तभिः समुद्रैः,—सप्तसागरैः, मुद्रिता  
—वेष्टिता, या मही—पृथिवी, तस्याः निर्व्याजम्—अकपट,  
स्वेच्छया ससन्तापमिति यावत्, यत् दानं—वितरण, कश्य  
पाय इति शेषः, अवधिः,—सीमा यस्य नादृश, क्षणध्वसि-  
गोहिरण्यादिदानेनैव नास्य दानशक्ति पर्यवसिता, अपि तु  
ससागरा मङ्गेत्रानेन दानविषयौक्यता, अत एव सत्यब्रह्म-  
तपोनिधेः,—सत्यस्य—सत्यवचसः, ब्रह्मणः,—ब्रह्मज्ञानस्य,

श्रोतज्ञानस्य वा, तपस, —तपस्यायाश्च, निधेः, —आश्रयभूत-  
स्यत्यर्थ, भगवतः, —माहात्म्यप्रमत्पन्नस्य. परशुरामस्येति शेष,  
किं किं—किं किं कार्यमित्यर्थ, लोकोत्तरम्—अलौकिक,  
प्राकृतमानवेनाचरितुमशक्यमित्यर्थः, न ?—अपि तु मन्वेमेवा-  
लौकिकमित्यर्थे, तस्य वार्य, दानशक्तिः. सत्यव्यवहारः.  
ब्रह्मज्ञान. तपस्वरणञ्च सञ्चनेव लाकातिशायि आसीदिति  
भाव । अत्र हनोयपाटे परशुरामस्यं सप्तममुद्रवेष्टितपृथिवीदाने  
उसाहातिशयप्रदर्शनात् अस्य दानवीरविषयत्व ज्ञातव्यम् ।  
शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।

दयावीरोऽपि दपणेनोक्तः, यथा जीमूतवाहनः,—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्त-

मद्यापि देहे मम मासमस्ति ।

दृष्टिं न पश्यामि तवापि तावत्

किं भक्षणाच्च विरतो गरुत्मन् ! ? ॥

दयावीरोदाहरण व्याख्यायते, शिरामुखैरिति ।—हे गरु-  
त्मन् ।—गरुड । अद्यापि—इदानीमपि, शिरामुखैः,—शिराणा-  
—नाडीना, मुखैः,—अग्रभागैः, छिन्ननाड्यग्रभागैरित्यर्थ, रक्त-  
—शोणितं, स्यन्दते—क्षरति एव, अद्यापि सर्वं रक्त त्वया न  
नि शेष पीत, यतः स्रवतीति भावः, मम—मे, देहे—शरीरे,  
मास—पिशितम्, अद्यापि इति पूर्वोक्तेनानुषङ्गः, अस्ति—  
वर्तते, मासमपि निःशेष न भक्षितमित्यर्थे, तवापि—भवतो-  
ऽपि, तावत्—सम्पूर्णा, दृष्टिम्—उदरपूर्तिजनित परितोष-  
मित्यर्थ, न पश्यामि—नावलोकयामि, अद्यापि तव भोजना-  
काङ्क्षा विद्यते इति विवेचयामीत्यर्थ, (तथाऽपि) त्वं—भवान्,  
किं—कथं, भक्षणात्—भोजनव्यापारऽत्, विरतः,—निवृत्त ?  
असीति शेषः, यावत् मम रक्तमास विद्यते, तावत् भक्ष्य

करुणरसलक्षणमाह, -

शोकोत्थः करुणो ज्ञेयस्तत्र प्रणतरोदने ।

वैवर्ण्यमोहनिर्वेदप्रलापाश्रूणि कीर्त्तयेत् ॥ २१ ॥

इति भावः । अत्र जीमूतवाहनस्य गुरुडक्तसमयानुसारिण  
पर्यायाऽऽपतितदिवसे तद्गोच्यार्थं समामतस्य शङ्खचूडस्य नाश-  
सम्भावनातुराणा तदात्मीयानां दुःखप्रहाणेच्छारूपायां दया-  
याम् उक्ताहः किं भक्षणात् त्वं विस्तः ? इति चतुर्थपादवाक्येन  
प्रकटितः, इत्यस्य दयावीरत्व बोध्यव्यम् । इन्द्रवज्रीपेन्द्रवज्रयो-  
रुपजातिर्ह्येतत् ॥ २० ॥

'करुणं लक्षयति, शोकोत्थ इति ।—शोकात् इष्टनाशा-  
निष्टावाप्तिजनितात्, स्थायिभावविशेषात् शुचः उत्तिष्ठति—  
उत्पद्यते इति शोकोत्थः, रसः इति शेषः, करुणः,—तदाख्यरसः,  
ज्ञेयः,—बोध्यः । तत्र—तस्मिन् करुणरसे, प्रणतं—प्रकर्षेण  
पतनं, रोदन—क्रन्दनं, वैवर्ण्यं—वर्णान्यथाभावः, मोहः,—  
मूर्च्छा, निर्वेदः,—आत्मनि अवज्ञा, प्रलापः,—अनर्थक वचनं,  
अश्रूणि—नयनजलानि, एतानि कीर्त्तयेत्—वर्णयेत्, कविरिति ।  
शेषः । अस्योदाहरणं यथा,—

हा मातस्वरितासि कुत्र ? किमिदं ? हा दैवत । कासि भोः ?  
धिकं प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहः स्वाङ्गेषु दग्धे दृशौ ।

इत्य घर्घरकण्ठरुद्धकरुण पौराङ्गनानां गिर-

श्वित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तोरपि ॥

करुणरसोदाहरणं व्याख्यायते, हा मातरिति ।—हा इति  
खेदे, मातः ।—जननि ! त्वरिता—सत्वरा सती, कुत्र—  
कस्मिन् स्थाने, असि ?—वर्त्तसे ? त्वमिति शेषः, समयोप-  
स्थितेः प्रागेव त्वं कुत्र गताऽसि ? नाधुनाऽपि ते प्रयाणकालः

हास्यरसलक्षणमाह,

हासमूलः समाख्यातो हास्यनामा रसो बुधैः ।

चेष्टाङ्गवेषवैकल्याद्वाच्यो हास्यस्य चोद्भवः ॥ २२ ॥

समागतः इति भावः, इदम्—एतत्, किम् ? आपतितमिति शेषः, कथमीदृशः अनिष्टः समुपस्थितः इति भावः, हा इति शोके, भोः देवत ।—हे देव, हे परमेश । इत्यर्थः, क्व—कुत्र, असि ?—वर्त्तसे ? त्वमपि अस्मान् परित्यज्य गतः ? येनास्माकमीदृशी दुर्दशाः समुपस्थिता इति भावः, प्राणान्—जीवितं, धिक्—निर्भर्त्सयामि, जीवितेनास्माकं न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, अशनिः,—वज्रः, पतितः,—निक्षिप्तः, भाट-वियोगेनास्माकं शिरसि वज्राघातः सञ्जातः, स्वाङ्गेषु—स्वदेहेषु, हुतवहै,—अग्निः, आग्निर्देहं दहतीवेत्यर्थः, दृशी—नेत्रे, दग्धे—भस्मीभूते, तवादर्शनं चक्षुषोरतीव सन्तापजननमिति भावः, घर्घरकण्ठरुद्धकरुणं—घर्घरेण—घर्घर इति अव्यक्तध्वनिविशेषयुक्तेन, कण्ठेन—गलदेशेन, रुद्धं—लुप्तप्रायम्, अत एव करुणं यथा तथा, उच्चारिता इति शेषः, पौगाङ्गनाना—पुरस्त्राणाम्, इत्यम्—एवम्प्रकाराः, गिरः,—शोकवचनानि, चित्रस्थानपि—आलेख्यगतानपि, निर्जीवानपि, किमुत सजीवान् इति भावः, रोदयन्ति—क्रन्दयन्ति, भित्ती,—कुड्यान्यपि, जडानपि इति भावः, शतधा—शतखण्डेन विभक्ताः, खण्ड-खण्डौकताः इत्यर्थः, कुर्वन्ति—सम्पादयन्ति, अत्र करुणः सुस्पष्ट एव । शार्दूलविक्राडित वृत्तम् ॥ २१ ॥

हास्यं लक्षयति, हासेति ।—हासः,—रागवेशादेः विकृतताजनित स्फूर्तिजनकः भावविशेषः, वाग्गटिविकृतताजनितः चेतो विक्रासो वा, मूल—कारण यस्य सः, हास-

पात्रभेदेन हासभेदमाह,—

कपोलाक्षिक्कतोक्तासोभिन्नोष्ठः स महात्मनाम् ।

विदीर्णास्यश्च मध्यानामधमानां सशब्दकः ॥२३॥

सूल,—हासस्थायिभावः इत्यर्थं, हास्यनामा रसः बुधैः  
—पण्डितैः, समाख्यातः,—कथितः । 'चेष्टायाः,—चेष्टा—  
कायकृतव्यापारः, तस्याः, मुखनेत्रादिसञ्चालनरूपाया इत्यर्थः,  
अङ्गस्य—करचरणाद्यवयवस्य, वेपथस्य—प्रसाधनस्य च, वैक-  
त्यात्—विकृतभावात्, हास्यस्य—तदाख्यरसस्य, उद्भवः,—उत्-  
पत्तिः, वाच्यः,—कथनीयः ॥ २२ ॥

व्यक्तिविशेषे अस्य प्रकारभेद दर्शयति, कपोलेति ।—स',  
—हास', महात्मनाम्—उत्तमाना नराणां, कपोलेषु—गण्ड-  
देशेषु, अक्षिषु—नेत्रेषु, कृतः,—सूचित इत्यर्थः, उक्तासः,—  
विकासः यस्य तथाभूतः, अथ च, अभिन्नोष्ठः,—अकार-  
प्रश्लेषपक्षे,—अभिन्नौ—अप्रकटिमौ, ओष्ठौ यत्र तथाभूतश्च,  
यद्वा,—भिन्नोष्ठ,—तदभावपक्षे च,—भिन्नौ—स्मरतया  
स्मन्दिताधरतया च ईषद्विकसितौ, 'इति भावः, ओष्ठौ—  
दृशनवाससी, ( अत्र द्विवचनेन ओष्ठाधरयोरिव बोधात् )  
यस्मिन्, तादृश' । मध्याना—नाधमानां नाप्युत्तमानाम्,  
उत्तमाधमयोरन्तरालवर्तिनामित्यर्थं. नराणामिति शेषः,  
विदीर्णं—विस्तारितम्, आस्यं—वदनं यत्र तथाभूतः, अध-  
माना—नीचानां, सशब्दकः,—शब्दसहितः, व्यादत्तवदनः  
भवति इति शेषः । [ अत्र "कपोलाक्षिक्कतोक्तासोभिन्नोष्ठे तिष्ठन्  
स उत्तमः । मध्यमाना विदीर्णास्यः सोऽवराणां सशब्दकः ॥"  
इति पाठे,—कपोलाक्षिभिः,—गण्डस्थलनेत्रैः, कृतः, उक्तासः,  
—विकासः यत्र, तत् यथा भवति तथा, ओष्ठे—वदनच्छेदे

एव, तिष्ठन्—वत्तमानः, न तु व्यात्तास्यः भवन्नित्यर्थः, यः  
 हाम इति शेषः, स',—हास इत्यर्थः, उत्तमः,—उत्तमपात्रगत-  
 हास इत्यर्थः । अवरणाम्—अधमाना, नीचानामित्यर्थः ] ।  
 अत्र दर्पणकारेण विशेषः उक्तः,—“ज्येष्ठानाः स्मितहसिते  
 मध्याना विहसितावहसिते च । नीचानामपहसितं तथा-  
 ऽतिहसितञ्च षड्भेदाः ॥ ईषद्विकासिनयन स्मितं स्यात्  
 सन्दिताधरम् । किञ्चिन्नख्यद्विज, तत्र हसित कथितं बुधै ॥  
 मधुरस्वर विहसित सास्रशिरःकम्पमवहसितम् । अप-  
 हसित सास्त्राच्च विच्छिन्नाङ्ग भवत्यतिहसितम् ॥” इति  
 उदाहरणम्,—

आकुञ्च्य पाणिमशुचि मम मूर्द्धिं वेश्या

मन्त्राभ्रसां प्रतिपद पृषतैः पवित्रे ।

तारस्वरं प्रहितशूर्पमदात् प्रहारं

हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥

हास्यरसोदाहरणं व्याख्यायते, आकुञ्चयति ।—वेश्या—  
 काचिद्गणिका, मन्त्राभ्रसा—मन्त्रपूतोदकानाम्, आपोमार्जन-  
 मन्त्रेण मन्त्रितानामित्यर्थः, पृषतैः,—विन्दुभिः, पवित्रे—विशुद्धे,  
 मम—मे, मूर्द्धिं—शिरसि, प्रतिपद—पदे पदे, प्रतिपदक्षेप-  
 मित्यर्थः, अशुचिम्—अपवित्रं, वेश्यात्वादिति भावः, पाणि—  
 करम्, आकुञ्च्य—सङ्कोचितं कृत्वा, प्रहितशूर्पं—प्रहित,—  
 प्रेरित, शूर्पं,—प्रस्फोटन, धान्ययवादीना धूल्याद्युत्सारण-  
 सहाय “कुला” इति वङ्गोयैराख्यातद्रव्यविशेषः यत्र तद् यथा  
 तथा, तारस्वर—सशब्द, प्रहार—ताडनम्, अदात्—अकरोत्,  
 शूर्पसञ्चालनेन मम मस्तके प्रहारम् अकरोदित्यर्थः, शूर्पसञ्चाल-  
 नोत्पवायुना सा दूरीचकारिति भावः, अत एव हा' हा इति  
 विषादे, अह हत,—विनष्ट, इति—एवमुक्त्वा इत्यर्थः, विष्णुशर्मा



अङ्गतरसोत्पत्तिमाह,—

विस्मयात्माऽङ्गुतो ज्ञेयः स चासम्भाव्यवस्तुनः ।  
दर्शनात् श्रवणाद्वाऽपि प्राणिनामुपजायते ॥२४॥

अङ्गतरसलक्षणमाह,—

तत्र नेत्रविकासः स्यात् पुलकः खेद एव च ।  
निस्पन्दनेत्रता साधु साधु वा गङ्गदा च गौः ॥२५॥

—तन्नामा कश्चित् ब्राह्मणः, रोदिति—क्रन्दति । अत्र “तारस्वर प्रहितशूर्पम्” इत्यादिगणिकाचेष्टाविशेषस्य-हास्यजनने कारणत्वात् हास्यरमो बोध्य । वसन्ततिलक वृत्तम् । यथा वा,—“गुगेर्गिर पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयञ्च । अमी समाग्राय च तर्कवादान् समागता कुक्कुटमिश्रपादाः ॥” इति ॥ २३ ॥

अङ्गतस्य उत्पत्तिमाह, विस्मयेति ।—विस्मयः,—विचित्रवस्तुदर्शनजनितः चित्तविकारविशेषः, आत्मा—स्थायिभावः यस्य तथाभूतः, रसः इति शेषः, अङ्गुतः,—तदाख्य रसः, ज्ञेयः,—बोध्यः । स च—अङ्गुत इत्यर्थः, प्राणिनां—सहृदयानामिति भावः, असम्भाव्यस्य—कस्यचित् सम्भावनाऽतिगस्य, लोकातीतस्य वा, वस्तुनः,—पदार्थस्य, दर्शनात्—अवलोकनात्, श्रवणाद्वाऽपि—आकर्णनाद्वाऽपि, उपजायते—सम्भवति ॥ २४ ॥

अङ्गतरससूचकलक्षणमाह, तत्रेति । तत्र—अङ्गुते रसे, नेत्रयोः विकासः,—विस्फूतता, पुलकः,—लोमाञ्च, खेदश्च—घर्म्मश्च, तथा निस्पन्दनेत्रता—निश्चलनेत्रता, साधु साधु

इत्येवरूपा गहदा—अव्यक्तास्फुटा, गीः,—वाक् च, स्यात्—  
भवेत् ।

अत्र उदाहरणम्,—

चित्त महानेष वताविकार. क्व कान्तिरेषाभिनेवैव भङ्गिः ।

लोकोत्तरं धैर्यमहो । प्रभाव काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

अङ्गतोदाहरणं व्याख्यायते, चित्रमिति ।—वत—विस्मये  
हर्षे वा, एष,—अय, महान्—प्रकृष्टः, अविकारः,—विकारा-  
भावः, गाम्भीर्यमित्यर्थः, क्व—कुत्र, अस्तीति शेषः, न कुत्रापि  
दृश्यते इति भावः, एषा—परिदृश्यमाना, कान्तिः,—लावण्यम्,  
अभिनवैव—नूतना एव, नान्यत्र कुत्रापि दृश्यते इति भावः ;  
भङ्गिः,—विन्यासोऽपि, अवयवस्येति भावः, अभिनवैव इति  
विशेषणपदमत्रापि योजनीयम्, लोकोत्तरम्—अलौकिकं,  
धैर्यं—धीरत्वम्, अहो—आश्चर्यम्, अप्राकृततया इत्यर्थः, प्रभाव,  
—“स. प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्” इत्युक्तलक्षणः  
तेजोविशेषः, तेजो वा, कापि—अनिर्वचनीया अदृष्टपूर्वा च,  
आकृतिः,—रमणीयाकारः, अत एव एषः,—अयं, परिदृश्य-  
मान इत्यर्थः, सर्गः,—विधातुः सृष्टिविशेषः, नूतनः,—  
नवीनः, इतः प्राक् ईदृशः सर्गः विधात्रा कदापि न कृतः,  
अयमेव प्रथमः सर्गः इति भावः ; चित्रम्—आश्चर्यमेतत् ।  
अत्र कुत्राप्यदृष्टानाम् विकाराभावादीना पुरःस्थे महाप्रभावे  
पुंसि दर्शनात् नेत्रविकाशाद्युत्पत्तेः अङ्गतरसः बोध्यः ।  
इन्द्रवज्रा वृत्तम् । यथा वा—“दोर्दण्डाच्चितचन्द्रशेखर-  
धनुर्दण्डावभङ्गोद्यतः टङ्कारध्वनिरार्थबालचरितप्रस्तावना-  
डिण्डिमः । द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुटमिलद् ब्रह्माण्डभागण्डोदर-  
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो । नाद्यापि विश्राम्यति ॥”  
इति ॥ २५ ॥

भयानको भवेद्भीतिप्रकृतिर्घोरवस्तुनः ।

स च प्रायेण वनितानीचबालेषु शस्यते ॥ २६ ॥

भयानकरस्य कार्यमाह —

दिगालोकास्यशोषाङ्गकल्पगद्गदसम्भ्रमाः ।

त्रासवैवर्ण्यमोहाश्च वर्ण्यन्ते विबुधैरिह ॥ २७ ॥

भयानक लक्षयति, भयानक इति ।—घोरवस्तुनः,—  
भोषणपदार्थात्, पिशाचादिदशनात् इति भावः, भीतिः,—  
भयम् एव, प्रकृतिः,—स्वभावः, स्थायिभाव इत्यर्थः, यस्य  
तादृशः, रसः इति शेषः, भयानकः,—तदाख्य रसविशेष,  
भवेत् । स च—भयानको रस, प्रायेण—बाहुल्येन, वनिताः,  
—स्त्रियः, नीचाः,—अधमाः पुरुषाः, बालाः,—शिशवः तेषु,  
शस्यते—कथ्यते, वर्ण्यते वा ॥ २६ ॥

भयानकरसे यद् यद् भवति तत्तदाह, दिगिति ।—इह—  
अस्मिन् रसे, दिशाम् आलोक, —दर्शनं, दिक्षु नेत्रनिक्षेपः  
इत्यर्थः, आस्यशोषः,—मुखशुष्कता, अज्ञानाम्—अवयवानां,  
कम्पः, गद्गदः,—अस्पष्टवाक्यं, सम्भ्रमः,—आवेगश्च ते, तथा त्रास-  
वैवर्ण्यमोहाश्च—त्रासः,—भीतिः, वैवर्ण्यं—सुखादेर्मान्दिन्य-  
मित्यर्थः, मोहः,—मूर्च्छा च, ते, विबुधैः,—पण्डितैः, वर्ण्यन्ते  
—कीर्त्यन्ते । तदुपयोदाहृतं दर्पणकारेण,—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य तपा-

मन्तःकञ्चकिकञ्चकस्य विशति त्रामादय वामनः ।

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृश नाम्न किरातैः कृतं

कुजा नीचतयैव यन्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

भयानकोदाहरणं व्याख्यायते, नष्टमिति ।—वर्षवरैः,—

शब्दे, क्लीवैरित्यर्थ, ( "शब्दो वर्षवरस्तुल्यौ" इत्यमरः )  
 वासात्—भयात्, ( पदमेतत् सर्वत्रैवान्वेतव्यम् ) मनुष्य-  
 गणनाभावात्—मनुष्येषु—पुरुषेषु, गणनाभावात्—अगण्य-  
 त्वात्, पुस्त्वाभावात् सर्वेषामश्रद्धेत्यादिति भावः, त्रपां—  
 लज्जा, पलायनजनितमित्यर्थ, अपास्य—त्यक्त्वा, अनपेक्ष्य  
 इत्यर्थः, नष्टम्—अदृशेन गतः, पलायितमिति यावत्,  
 अय—परिदृश्यमान इत्यर्थः, वामनः—ऋक्षाकारः पुरुषः,  
 कञ्चकिकञ्चकस्य—कञ्चुकिंनं,—“अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो  
 गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।  
 जरावक्त्ययुक्तेन विशिहात्रेण कञ्चुकी ॥” इत्युक्तलक्षणान्तः-  
 पुराविकृतवृद्धत्राह्णविशेषस्य, कञ्चकस्य—वारवाणस्य, वम-  
 विशेषस्य इत्यर्थः, ( कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री” इत्यमरः )  
 अन्तः—अभ्यन्तरे, अन्तराले इत्यर्थः, विप्रति—प्रविप्रति,  
 कञ्चुकान्तराले आत्मानं गोपायतीत्यर्थः, पर्यन्ताश्रयिभिः,—  
 पर्यन्त—प्रान्तभागः, ग्रामस्येति भावः, आश्रयन्तीति तादृशैः,  
 ग्रामप्रान्तवर्तिभिरित्यर्थः, किरातः,—व्याधैः, निजस्य—  
 स्वस्य, नाम्ना,—किरात इति सज्ञायाः, ( तथा हि,—किर—  
 विष्ठादिमन्त्रप्रक्षेपस्थानं, पर्यन्तदेशमित्यर्थः, अतति—गच्छति,  
 वसतीत्यर्थः, इति व्युत्पत्त्या किरातशब्दः उपश्लेषवास्तव्यन्तेच्छ-  
 विशेषार्थं प्रयुज्यते इति वेदितव्यम् ) सदृशं—उचितं, कर्त्तव्यं  
 शेषः, कृतम्—अनुष्ठितं, पर्यन्ताश्रयणं कृतमित्यर्थः, पला-  
 यितमिति यावत्, ( यद्वा,—“अन्तेवासी” इति स्वपर्या-  
 यकशब्दः अन्यथेः कृत इति तात्पर्यं, तथा चामरः,—  
 “निषादश्चपचान्तेवासिचण्डालपुक्कसा,” इति ) कुजाः,—  
 गडुजाः,—रोगिणः वार्षकेन वा क्रीडावनतोन्नतपृष्ठपुरुष-  
 विशेषाः इत्यर्थः, आत्मेक्षणशब्दिभिः,—आत्मनः,—स्वस्य,

रौद्ररसमाह,—

क्रोधात्मको भवेद्रौद्रः क्रोधश्चारिपराभवात् ।

भोष्मवृत्तिर्भवेद्यः सामर्षस्तत्र नायकः ॥ २८ ॥

रौद्ररसस्य काव्यमाह,—

स्वासापातस्वसंश्लाघाऽऽक्षेपभ्रूकुटयस्तथा ।

अवारातिजनाक्षेपो हलनं चोपवर्ण्यते ॥ २९ ॥

ईक्षण—दृग्नेनम्, आशङ्कन्ते—सम्भावयन्ति, आशसन्ते वा, इति  
तथोक्ता. सन्त, नीचतयैव—नतभावेनैव, शनकै,—मन्द मन्द,  
यान्ति—भयावेशात् गच्छन्ति । अत्र घोरवस्तुदर्शनात् नीच  
पात्राणा वर्षवरादीनां त्राससम्भ्रमादिवर्णनात्, मयानकरसो  
बोधः । शार्दूलविक्रोडितं वृत्तम् ॥ २७ ॥

रौद्र लक्षयति, क्रोधेति ।—क्रोधः,—कोपः, आत्मा—  
स्वरूप यस्य सः, क्रोधस्थायिभावकः रस इति शेष, रौद्र,—  
तन्नामा रसः भवेत् । क्रोधश्च अर्षिभ्यः,—शत्रुभ्यः, पराभवात्  
—अत्रमानात्, भवति इति शेषः । तत्र रौद्रे रसे, नायकः,—  
नेता, भोष्मा—भयङ्करा, वृत्तिः,—व्यापार, चेष्टा इत्यर्थः यस्य  
तथाभूत, उग्रः,—घारः, भोष्णदर्शन इत्यर्थः, सामर्षः,—“निन्दा-  
ऽऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता । नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूमङ्गो-  
त्तज्जनादिक्त्वत् ॥” इत्युक्तलक्षणः अमर्षः, तेन सह वर्तमानः  
परिभवासहिष्णु. इत्यर्थः, भवेत् ॥ २८ ॥

रौद्ररसे यादृशी चेष्टा भवति, तामाह, स्वासापातेति ।—  
अत्र—रौद्ररसे, स्वासापातः,—स्वस्य अंसस्य—स्कन्धस्य, तथा,  
लक्षणया बाहोः इत्यर्थः, आपातः,—तर्ज्जनाथमास्फोटन,  
स्वस्य—आत्मनः, संश्लाघा—प्रशसा, आक्षेप,—निभक्षणं,  
भ्रूकुटिः,—भ्रूमङ्गिः, ता., तथा अरातिजनस्य—शत्रुजनस्य,

आत्तेपः,—तिरस्कारः, दलनं—मर्दनञ्च, उपवर्णते—कीर्त्यते ।  
 [“स्वांसाद्यातः स्वशंसास्त्रोत्तेपभ्रूकुटयस्तथा” इति प्रथमार्हम्य  
 पाठान्तरे,—स्वस्य अंसस्य आद्यातः,—स्वेनैव ताडनं, [ आड्-  
 पूर्वकात् भौवाटिकात् द्यायतेः निष्ठा ] स्वशंसा—आत्मझाघा,  
 अस्त्रोत्तेपः,—अस्त्राणाम् उत्तेपः,—ऊर्ध्वोत्तोलनम्, ऊर्ध्वीकृत्य  
 प्रदर्शनम् इत्यर्थः ] । यथा वेणीसंहारे,—

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं

मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।

नरकरिपुणा साहं तेषा सभौमकिरीटिना-

. मयमंहमसृष्ट्वांसैः करोमिदं दशा बलिम् ॥

ब्रह्मप्राप्त रौद्रीदाहरणमाह, कर्तामिति ।—पितृानधना-  
 र्त्तस्य क्रुद्धस्य अश्वत्यान्त्रः पाण्डवान् प्रतिसम्बोध्य उक्तिरियम् ।  
 यै. निर्मर्यादैः,—उल्लङ्घितस्थितिभिः, अनुष्ठितपूज्यपूजाव्यति-  
 क्रमैरित्यर्थः, युद्धे निरस्त्रस्य हनननिषेधात् तत्कारणेन युद्ध-  
 मर्यादाभङ्गावश्यभावात् इति भवः, अत एव मनुजपशुभिः,  
 —मनुजेषु—मनुष्येषु, पशुभिः,—पशुतुल्यैः, पशुवत् हिताहित-  
 ज्ञानरहितैरित्यर्थः, उदायुधैः,—उद्यतास्त्रैः, शस्त्रधारिभि-  
 रित्यर्थः, भवद्भिः,—युष्माभिः, प्राण्डुतनयैरित्यर्थः, इदं—मत्-  
 पितृशिरस्छेदरूपं, गुरु—महत्, पातक—पाप, निरस्त्रस्य  
 युद्धाद्विरम्य समाधिभाश्रित्य स्थितस्याचार्य्यस्य घातनरूप महा-  
 पापमिति यावत्, कृतम्—स्वयमनुष्ठितम्, अनुमतं—अनुज्ञात,  
 स्वीकृतमित्यर्थः, न निषिद्धमिति यावत्, दृष्टं वा—ईक्षितं वा,  
 नरकरिपुणा—नरकासुरान्तकेन, श्रीकृष्णेन इत्यर्थः, साहं—  
 सह, वर्त्तमानानामिति शेषः, सभौमकिरीटिनां,—भीमार्जुन-  
 सहितानां, तेषां—दृष्टद्युम्नादिपाण्डुपत्नीयाणामित्यर्थः, असृ-  
 ष्ट्वांसैः,—रक्तवसापिशितैः, अयम्—एषः, परिदृश्यमान

वीभत्सरसमाह, —

वीभत्सः स्याज्जुगुप्सातः सदो यच्छ्रवणेक्षणात् ।  
निष्ठीवनास्यभङ्गादि स्यादत्र महतां न च ॥ ३० ॥

इत्यर्थः, अहम्— अश्वत्यामा इत्यर्थः, दिशां—ककुभां, दिग्वि-  
दिक्संस्थितभूतानामित्यर्थः, बलि—पूजां, ( “बलिः पूजोप-  
हारयोः” इत्यमरः ) करोमि—सम्पादयामीत्यर्थः । अत्र  
पाण्डवपक्षीयधृष्टद्युम्नेन कृतात् पितुर्द्रोणाचार्यस्य अन्यायसमरे  
हननरूपादवमाननात् असुपजातार्त्तावन्नस्यः नायकस्याश्व-  
त्यान्नः उग्रत्वसामर्षत्वादिवर्णनात् रौद्ररससङ्गतिः बोध्या ।  
हरिणी वृत्त, — “न समरसलागः प्रड्वैदैर्हयैर्हरिणोमता” इति  
लक्षणात् ॥ २६ ॥

अथ क्रमप्राप्त वीभत्सं लक्षयति, वीभत्स इति ।—सद्यः,—  
तत्क्षण, यस्य—यद्विषयस्येत्यर्थः, श्रवण—कुतश्चिदाकर्णनम्,  
ईक्षण—दर्शनञ्च, तस्मात्, [ अत्र श्रवणञ्च दर्शनञ्च श्रवणदर्शन-  
मिति समाहारद्वन्द्वे एकवद्भावश्चिन्तनीयः ] या जुगुप्सा—पृष्ठा-  
तस्याः जुगुप्साहेतोरित्यर्थः, जुगुप्सास्थायिभावकः इति यावत्,  
[ जुगुप्सात इति जुगुप्साशब्दात् पञ्चम्याः तसिल् ] वीभत्स,—  
तदाख्यः रसः, स्यात्—भवेत्, [ “वीभत्सः स्याज्जुगुप्सातो-  
ऽहृद्यस्य श्रवणेक्षणात्” इति प्राठान्तरे,—अहृद्यस्य—अप्रियस्य,  
मनोग्लानिकरविषयस्येत्यर्थः, श्रवणेक्षणात् या जुगुप्सा, तस्याः  
वीभत्सः स्यादित्यर्थः ] ; अत्र—अस्मिन् रसे, निष्ठीवन—थुत्कारः,  
आस्यभङ्गः,—मुखविकृतिः इत्यर्थः, आदिः यस्य तत्, ( अत्र  
आदिपदेन गात्रसङ्कोचन-नासापिधानादीना ग्रहणम् ) स्यात्  
—भवेत् ; किन्तु महता—महापुरुषाणां, तत्त्वज्ञानवता-

मित्यर्थः, समलोष्टाश्मकाञ्चनानामिति यावत्, न च—नैव,  
स्यात्, निष्ठीवनादिकम् इति शेषः ।

वीभत्सरमोटाहरणं यथा मालतीमाधवे,—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं, प्रथममथ पृथूच्छोथभृयांसि मांसा-  
न्यसस्मिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्द्युग्रपृतीनि जग्ध्वा ।

अन्तःपर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्गः करङ्गा-  
दङ्गस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

प्रेतभूमौ अर्धविगलित शवदेहं भुञ्जान प्रेतमालोक्य माधवः,  
तत्कृत्यमुपवर्णयन्नाह, उत्कृत्येति । प्रेतरङ्गः,—प्रेतेषु—प्राण्यन्त-  
रेषु, भूतयोनिविशेषेषु इत्यर्थः, ( “प्रेतः प्राण्यन्तरे मृतं”  
इत्यमरः ) रङ्गः,—मुन्दः, हीन इत्यर्थः, ( “रङ्गः कृपणमन्दयोः”  
इति मेदिनी ) प्रेताधम इति यावत्, प्रथमम्—आदौ, कृत्ति—  
चर्म, उत्कृत्य उत्कृत्य—छित्त्वा छित्त्वा, अतीति वच्यमाण-  
क्रियापदेनान्वयः ; अथ—अनन्तर, त्वग्भक्षणात् परमित्यर्थः,  
पृथूच्छोथभृयांसि—पृथना—महता, उच्छोथेन—स्फीतिभावेन,  
भृयांसि—प्रभूतानि, बहुकालमृततया पर्यषितत्वादिति भावः,  
असः,—स्कन्धः, स्मिक्—नितम्बः, पृष्ठ—देहस्य पश्चादशः,  
तान्येव पिण्डाः,—देहैकदेशाः, तदाद्यवयवेषु—तत्रभृत्यङ्गेषु,  
( अत्र आदिना ऊर्वादे. मासलस्थलस्य ग्रहणम् ) सुलभानि  
—सुप्रापाणि, उग्रपृतीनि—उत्कटदुर्गन्धीनि, मासानि—  
पिशितानि, जग्ध्वा—भक्षयित्वा, अन्तः,—अभ्यन्तरे, शव-  
देहस्येति भावः, [ “अन्तः” इत्यत्र “आर्त्तः” इति पाठे,—  
आर्त्तः,—दुःखितः, त्वङ्गासादिभक्षणेनापि अदत्त इत्यर्थः ]  
पर्यस्तनेत्रः,—पर्यस्ते—पतिते, नेत्रे—नयने यस्य तादृशः,  
अन्वादिभक्षणाशया इति भावः, प्रकटितदशनः,—प्रकटिताः,  
—प्रकाशिताः, दशनाः,—दन्ताः येन तादृशः सन्, अङ्गस्थात्



शान्तरसमाह,—

सम्यग्ज्ञानसमुत्थानः शान्तो निस्सुहृन्नायकः ।  
रागद्वेषपरित्यागात् सम्यग्ज्ञानस्य चोद्भवः ॥३१॥

—क्रोडनिहितात्, करङ्गात्—अस्थिशेषत् शकात्, शिरो-  
भागाद्वा, (“करङ्गोऽस्थिशेषे” इति “करङ्गः प्रेतशरीरम्” इति  
“करङ्गो मस्तके” इति च मेदिनी) अस्थिसंस्थम्—अस्थिसंलग्नम्,  
अथ च स्थपुटगतमपि—विषमस्थानस्थितमपि, ग्रन्थिस्थमपी-  
त्यर्थः, क्रव्यं—मासम्, अ्व्यग्र—निःशङ्कं यथा स्यात् तथेत्यर्थः,  
अत्ति—खादति । अत्र पूतिमांसासृगादिजुगुप्साव्यञ्जकशब्दा-  
कर्णनेन मनसि घृणोद्वेकात् निष्ठीवनास्यभङ्गादिसम्भवात्  
बीभत्सरससङ्गतिः बोध्या । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ३० ॥

अथ क्रमप्राप्तं शान्तं लक्षयति, सम्यग्मिति ।—सम्यग्-  
ज्ञानात्—ससारवैराग्यलक्षणत्, समीचीनबोधादित्यर्थः, तत्त्व-  
ज्ञानादिति यावत्, समुत्थानं—समुत्पत्तिः यस्य तथाभूतः, तथा  
निस्सुहृः,—वैतरागः, ससारसुखाभिलाषहीन इत्यर्थः, नायकः,  
—नेता यस्य यत्र वा तादृशः, रसः इति शेषः, शान्तः,—शान्त  
इति नाम्ना प्रसिद्धः, भवेदिति शेषः । रागः,—विषयानुरागः,  
पुत्रकलत्रादिषु आसक्तिरिति यावत्, द्वेषः,—शत्रुषु वैरबुद्धिः,  
तयोः परित्यागात्—परिवर्जनात्, सम्यग्ज्ञानस्य—प्रागुक्त-  
रूपस्य बोधस्य, उद्भवः,—उत्पत्तिः स्यादिति, शेषः । अत्र  
सम्यग्ज्ञानं स्थायिभावः इति भावः ।

उदाहरणम्,—

अहौ वा हारि वा कुसुमशयने वा दृशदि वा

मणौ वा लोद्रे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।

दृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः

कदा पुण्येऽरण्ये जिन ! जिन । जिनेति, प्रलपतः ॥

सर्वत्र समदर्शितया समुत्पन्नतत्त्वबोधः कश्चिद् बौद्ध-  
सन्न्यासी स्वं मनोगतमभिधत्ते, अहाविति ।—अहौ—अति- ।  
भीषणे सर्पे वा, [ इह सर्वत्र वाकार. प्रत्येकप्राधान्यसूचनार्थः  
बोध्य.] हारे—अतिमनोरमाया कण्ठभूषाया वा, कुंसुमशयने—  
निरतिशयकोमलाया पुष्पनिर्मितशय्यायां वा, दृशदि—अति-  
कठिने प्रस्तरे वा, उपलशय्याया वेत्यर्थः, मणौ—अत्युज्ज्वलतरे  
रत्ने वा, लोष्ट्रे—अतितुच्छे मृत्खण्डे वा, बलवति—प्रबले,  
विपुलानिष्टकारिणीत्यर्थः, रिपौ—शत्रौ वा, सुहृदि—हित-  
कारिणि मित्रे वा, द्रुणे—अग्राह्ये घासादौ वा, स्त्रैणे—जन-  
मानसोन्मादके स्त्रीसमूहे वा, समदृशः,—तुल्यदृष्टेः, समदर्शिन  
इत्यर्थः, अतुच्छे तुच्छे सुखे दुःखे च रागद्वेषविरहात् सर्व-  
त्रैव उदासीनस्येति यावत्, मम—मे, दिवसाः,—दिनानि,  
पुण्ये—पवित्रे, विजनतयाऽतिशान्तिप्रदे इत्यर्थः, अरण्ये—  
कानने, स्थित्वेति शेष, जिन । जिन । जिन ।—बुद्ध ! बुद्ध !  
बुद्ध ! इति—इत्य, प्रलपतः,—बहुवदतः, निरन्तर जपतः  
उतः इत्यर्थः, कदा—कहिं, यान्तु—गच्छन्तु ; न जाने,  
कदा अहं सर्वत्र समदर्शी रागद्वेषादिकं परित्यज्य निर्ज्जन-  
कानने स्थित्वा अनन्यचित्तो जिनं स्मरन् अवशिष्टान् दिवसान्  
अतिवाहयितुं शक्यामि इति समुदितार्थः । अत्र सकचन्दन-  
वनितादिषु निस्पृहस्य सपत्नादिष्वपि अद्विषतो, नायकस्य  
पुण्येऽरण्य वसतो जिनस्मरणमेव ससारसागरोत्तरणसेतुः इत्येवं-  
रूपस्य तत्त्वज्ञानस्य उदयदर्शनात् शान्तरससङ्गतिः. बोध्या ।  
शिखरिणी वृत्त, तद्वचनं यथा,—“रसैरुद्वैष्टिन्ना यमनसंभला  
गः शिखरिणी” इति ।

अन्यच्च,—

शत्रौ मित्रे हर्म्येऽरण्ये सम्मदे वा गदे वा

राज्ये भैक्ष्ये रत्ने लोष्ट्रे काञ्चने वा त्वणे वा ।

स्रोतस्त्रिन्या कामिन्या वा निन्दने वा स्तुतौ वा

चित्त चिन्ताऽवस्था हित्वा सश्रयेथाः समाधिम् ॥

तत्रैव उदाहरणान्तरमाह, शत्राविति—क्लेशबहुलस्य

अस्य संसारस्य असारतामनुभूय परित्यक्ताखिलविषयानुरागः  
कश्चित् तत्त्ववित् स्वशिष्य तत्त्वमुपदिशति । शत्रौ—विद्वेषाहं  
रिपौ, मित्रे—उपकारिणि सुहृदि, हर्म्ये—विलाससाधने इष्ट-  
कादिरचितधनिजनोचिश्वासभवने इत्यर्थः, अरण्ये—क्लेशबहुले  
वने, सम्मदे—प्रकृष्टानन्दे वा, गदे—नियतनिरतिशयक्लेश-  
दायिनि रोगे वा, (“रोगव्याधिगदामयाः” इत्यमरः) राज्ये—  
परमसम्मानार्हे राजकर्मणि, भैक्ष्ये—ष्टुष्टे भिक्षाकर्मणि, रत्ने  
—महामूल्ये मणौ, लोष्ट्रे—तुच्छमृत्खण्डे, काञ्चने—महार्हे  
स्वर्णे वा, त्वणे—अतिहेये घासादौ वा, स्रोतस्त्रिन्या—दुरवगाह्या  
नद्या, [ स्रोतः प्रवाहः विद्यते यस्याः सा स्रोतस्त्रिनोति स्रोतः-  
शब्दादस्त्वर्थे विन्] कामिन्या—सुखावगाह्या वामलोचनायां वा,  
निन्दने—स्वदोषाविष्करणे वा, स्तुतौ—आत्मनः प्रशंसाया नः  
चिन्तायाः,—अयं शत्रुः, इदं मित्रम्, इदं सुखसाधनम्, एतच्च  
दुःखनिदानम् इत्यादिरूपाया भावनाया इत्यर्थः, अवस्था—  
दशां, हित्वा—परित्यज्य, चित्तं—मानसं, समाधिम्—ईश्वर-  
राभिनिवेशरूपमैकार्थं, सश्रयेथाः,—नयेथाः, प्रापयेत्यर्थः  
त्वमिति शेषः । अत्रापि पूर्ववत् रागद्वेषादिपरित्यागेन सर्वत्र  
समदर्शनरूपतत्त्वज्ञानोदयकथनात् शान्तरससङ्गतिः बोध्या ।  
चित्रां वृत्तं,—“चित्रा नाम च्छन्दश्चित्तचेत्तयो मा यकारौ” इति  
तल्लक्षणात् ॥ ३१ ॥

उपसंहारः ।

दोषैरुज्झितमाश्रितं गुणगणैश्चेतश्चमत्कारिणं  
नानाऽलङ्कृतिभिः परीतमभितो रीत्या स्फुरन्त्या सताम्  
तैस्तैस्त्वयतां गतं नवरसैराकल्पकालं कवि-  
स्रष्टारो रचयन्तु काव्यपुरुषं सारस्वताध्यायिनः ॥ ३२ ॥

• इति षष्ठः परिच्छेदः ॥ ६ ॥

अधुना चरमेण श्लोकेन कविरय सर्वानन्यान् कवीन् उप-  
दिशन्नाह, दोषैरिति ।—सरस्वत्याः इदमिति सारस्वतं—  
शास्त्रम् इत्यर्थः, तत् अध्येतुं शीलम् एषाम् इति सारस्वता-  
ध्यायिनः,—शास्त्राध्ययनशीला इत्यर्थः, कविस्रष्टारः,—कवय  
एव स्रष्टारः,—काव्यरचयितारः इत्यर्थः, दोषैः,—प्रागुक्ते-  
श्रुतिकटादिभिः, उज्झित—विरहित, गुणाः,—पूर्वोक्ता माधु-  
र्यादयः, तेषां गणैः,—समूहैः, आश्रित—युक्त, नानाऽल-  
ङ्कृतिभिः,—विविधैः अनुप्रासोपमादिभिरलङ्कारैरित्यर्थः, चेतमः,  
—चित्तस्य, चमत्कारिणम्—वैचित्र्याधायकम्, अभितः,—सम-  
न्तात्, स्फुरन्त्या—विलसन्त्या, रीत्या—वैदर्भ्यादिनेत्यर्थः, परीतं  
—निबद्धं, तैः तैः तत्तल्लक्षणकैरित्यर्थः, नवभिः,—नवविधैः,  
रसैः,—शृङ्गारादिभिः, सताम्—सहृदयानां, काव्यरसरसि-  
कानामिति यावत्, तन्मयतां गतं—रसस्वरूपत्वेन अभ्युपपन्नं,  
काव्यपुरुष—काव्यम् एव पुरुषः तम्, आकल्पकाल—प्रलय-  
कालपर्यन्तं, रचयन्तु—सृजन्तु, निबध्नन्तु इत्यर्थः, [ “रचयन्तु”-  
इत्यत्र “घटयन्तु” इति पाठान्तरेऽपि स एवार्थः । अत्र पुरुष-  
शब्देन पुंसन्तानः पुत्रो व्यज्यते ] । तत् अयं भावः,—यथा

पुत्रोत्पादने वंशस्थापनं नामकीर्त्तनञ्च भवेत्, तथा काव्यस्य  
 रचने वंशप्रशस्तिः सुचिरं नामकीर्त्तनं भवति, इति निष्कर्षः ;  
 ब्रह्मा ससारप्रवाहाविच्छेदाय आप्रलयं प्राणिसृष्टिं करोति,  
 तथैव कवयोऽपि कवितारचनाऽविच्छेदाय यावत्संसारं काव्यानि  
 रचयन्तु इति भावः ॥ ३२ ॥

इत्यश्रषण्मास्राटवीसञ्चरणपञ्चानन कुलपतिकल्प-वि, ए, इत्युपनामक-श्रीमञ्जीवानत्  
 विद्यासागरभट्टाचार्यविरचिताया, तदात्मजाभ्या पण्डितश्रीमदाशुश्रीध  
 विद्याभूषण-पण्डितश्रीमन्नित्यश्रीधविद्वारवाभ्या परिवर्तित  
 परिवर्द्धितःया वाग्भटालङ्कारव्याख्याया  
 षष्ठ परिच्छेद ॥ ६ ॥

